फौजी भाई

(कहानी संग्रह)

शबनम

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Shabnam 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

For permissions requests or inquiries regarding this publication, please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7542-600-4

Cover design: Daksh
Typesetting: Tanya Raj Upadhyay

First Edition: February 2026

समर्पण

यथार्थ के चट्टान पर खिले अपनी भावना के फूलों को, अपने फौजी भाई "शहीद खूब लाल" एवम् अन्य सभी फौजी भाइयों को समर्पित करती हूँ।

शबनम कुमारी

आभार

मैं मृत्तिका हूँ,
जीव धारिणी मातास्वरूपा मृत्तिका !
बीज (भाव) को छिपाये,
कालांतर विटप (साहित्य) की आस लिए,
सारा जग अपना है---
यही विश्वास लिए।
आभार व्यक्त करती हूँ-----
-------जल का I (हरि शंकर, पतिदेव)
बीज से विटप पर्यंत की यात्रा में साथ रहने के लिए,
सदैव साथ है--- यह विश्वास भरने के लिए I
------ पक्षी वृंद का। (बच्चे--मृदुला, रवि शंकर, मनु शंकर)
जिनके कलरव में छिपे संदेश ने,
मेरे व्यक्तित्व को जगाया,
मानो,
पतझर में भी ऋतुराज बुलाया I
------हवा (प्रकाशक) का।
जिन्होंने, पुष्पित विटप की खुशबू को फैलायी I
तभी तो----
मृत्तिका की अंतर्मुखी पहचान,
घटा में भी मुसकरायी।

प्राक्कथन

काल चक्र में घूमती इस रफ्तार को माँपना आसान नहीं, किंतु समय को पार कर निरंतर मृत्यु के समीप जाती हुई हमारी जिंदगी, अपनी व्यथा, समस्याएँ, अंतःमन का सन्नाटा या फिर आह्लाद के पराग कणों का अहसास छोड़ती चली जाती है । इसे हम जिंदगी की धरोहर भी कह सकते हैं । समय के बदलते क्रम के साथ यह अहसास बदलता नहीं है बल्कि सुप्त रूप में स्थाई रहता है और तब-तक सुप्त रहता है, जब-तक अपनी अनुभूति क्षमता से इसे कोई जगा न दे । जन-जन के उसी सुप्त अहसास और अनुभूति कर्ता की सामर्थ्यता से साहित्य का जन्म होता है ।

यहाँ, मेरा भी यही प्रयास रहा है कि उन बिखरे अहसास को आत्मसात् कर शब्दों के द्वारा उन्हें कहानियों में मूर्त रूप प्रदान करूँ ।

'फौजी भाई' केवल कहानी संग्रह नहीं, अपितु अतीत और वर्तमान में लोग की जीवन शैली, सामाजिक व्यवस्था तथा कुछ हद तक राजनैतिक षड्यंत्र की झलकियों की प्रस्तुतिकरण है । आज के वैज्ञानिक युग और विकासशील देश में --अभी भी कसक के अहसास के साथ जीने वाले सामाजिक प्राणी हैं । यह अहसास प्रेम का हो, विपन्नता का, मजबूरी-गरीबी- अंधविश्वास या शोषण का--- काव्य के किसी-न- किसी रस से ओत-प्रोत है । हम बढ़ते गये मगर हमारी समस्याएँ, विवशता और आस्था वहीं-की-वहीं जड़वत् विराजमान रहीं । इस विरोधाभासित जीवन शैली के लिए हमारी मानसिकता दोषी है क्योंकि अभी भी हमारे अंदर जागरूकता की न्यूनता है । और---इसी न्यूनता को दर्शाने का कार्य करती है---समस्यामूलक विधाएँ ताकि हम अपने और समाज की जीवन शैली पर चिंतन और इसका मंथन करें । तभी हम

विकास के पथ पर अग्रसर अपने देश में अपना स्थान निर्धारित कर सकेंगे। साथ ही, इस कहानी संग्रह में प्रेम के उद्दात स्वरूप की झाँकियाँ प्रस्तुत करने वाली एवं बाल मनोविज्ञान पर आधारित कहानियाँ मर्मस्पर्शी हैं जो हमारी संवेदना को जागृत कर, हमें जन-जन की भावना के निकट लाती हैं।

निम्न और मध्यवर्गीय समाज-परिवार की आस्था एवं मान्यताओं की झाँकी स्वरूपा यह कहानी संग्रह, मानव मूल्य के निकट तो है किंतु इनका मूल्यांकन नहीं करता---क्योंकि यह कार्य समाज के बुद्धिजीवी वर्ग को सौंपा गया है।

शबनम कुमारी

अनुक्रमणिका

फौजी भाई 1

अक्कील बाबा 17

कलाकार 33

कवि की पत्नी 53

खुली चुनौती 70

जबरजस्त भूत 84

जिंदगी का मोल 99

तीसरा बेटा 120

पाँव रोटी वाला 131

गुब्बारा 144

सूखा पेड़ 162

फौजी भाई

फौजी भाई ! वास्तविक नाम क्या है - पता नहीं । उनका आना यानी मेरे बचपन रूपी मधुवन में बहार आना ! खुशियों की बरसात होने लगती, मन-मयूर नाच उठता । नयी-नयी उमंग के फूल खिल उठते और संभावित आनंद के झोंकों से वे झूमने लगते । मेरे बाल-मस्तिष्क में आनंद का प्रसार-ही-प्रसार ! और नाम ? उससे कोई सरोकार नहीं था । बात्सल्यता तो सरसता चाहती है, चाहे वह कहीं से भी मिले । बरसात के बाद आकाश में इन्द्रधनुष का आच्छादन सामान्य बात है, किंतु नीलाभ गगन और आच्छादित इन्द्रधनुष ! इस विरोधाभास से जीवन काव्यमय हो जाता ।

स्मृति पटल पर एक स्पष्ट- सी छाया आज भी उभर कर आती है जिसके सामने नतमस्तक हो उठती हूँ । फौजी भाई ! लंबा कद, चौड़ी छाती, भरा-भरा गठीला शरीर । साँवला रंग, आँखों में गहराई, जिसमें मानो उन्होंने अपने व्यक्तित्व को छिपा कर रखा हो ! होंठों पर स्निग्ध मुसकान की छटा ! मगर किसी अन्य से बातें करते समय मुसकराहट में कमी । बादल से झाँकते सूर्य की हल्की एवं सुखदा धूप के समान नपे-तुले शब्दों से वार्तालाप करते । उम्र यही कोई पच्चीस-छब्बीस रहे होंगे, जब मैं पाँच-छः वर्ष की थी । वे कौन हैं, कहाँ घर है - इन बातों से हमें कोई मतलब नहीं था । बस, साल में एक बार ही आते, तो मानो वर्षों से बिछड़े किसी आत्मजन से मुलाकात हो जाती ! उनके आने और मेरी खुशियों के बीच जो संबंध था, इसके कई आधार थे । उनके आने पर घर में अच्छे-अच्छे भोजन बनते । दाल या कढ़ी के साथ दो सब्जियाँ तो जरूर रहतीं, साथ में दही, पापड़ और बचके का कोई जवाब नहीं । नास्ते में भी निमकी, खुरमा, पूआ, हलवा----और क्या-क्या कहूँ !

थाल लगते ही, फौजी भाई मुझे गोद में लेकर बैठ जाते। अपने हाथों से मुझे जब खिला देते, तभी स्वयं खाते।

एक कारण यह भी था कि शाम को किसी पार्क में हमारा खेलना निश्चित हो जाता। मेरा छोटा भाई भी साथ में रहता। वहीं खेलते, हर्षोल्लास के कारण चीख-चीख कर दौड़ते, मूँगफलियाँ खाते और चना-जोर गरम मसाला के चटकारा से जिह्वा तृप्त करते। शरबत-कुलफी अंत में, और--- शाम ढलते ही वापस घर आकर उनसे कहानियाँ सुनना।

गरमी की छुट्टियाँ आयीं नहीं, कि मैं उनके आने का इंतजार करने लगती। घर में उनके पैर पड़े नहीं कि चीख उठती - "अरे !---- फौजी भाई आ गये !" माँ सिखाती - "चाचा बोलो, चाचा हैं।"

"नहीं, ये तो फौजी भाई हैं, फौजी भाई !" उनसे चिपती हुई कहती।

"रहने दीजिए भाभी ---! बच्चे के मुख से 'फौजी भाई' शब्द सुनकर मुझे बड़ा गर्व महसूस होता है। यही मेरी पहचान रहे - यही तो मैं चाहता हूँ।" - होंठों पर मुसकराहट बिखरते हुए वे यही बात दोहराते। उस वक्त उनकी आँखों में विचित्र चमक होती। उनकी एक हल्की मुसकराहट, माँ के विचार के आगे पूर्ण विराम बन जाती और आज उसी मुसकराहट की स्मृति---एक कसक बन कर रह गयी। भूले नहीं भूलती--उनके आने पर अपने जीवन के बीतने वाले पलों की मधुर स्मृतियाँ !

----------- ---------- ----------- ------------

"क्या-क्या लाये आप ?"----उत्सुक होकर मैंने पूछा।

"क्या-क्या चाहिए ?" -उन्होंने प्यार से मुझे गोद में बिठा लिया। मैं कुछ न बोली, बस चमकती आँखों से कभी उन्हें देखती, कभी वहीं खड़ी माँ को और कभी संकोच वश जमीन को। वर्षा ऋतु का आगम हो चुका था। वर्षा

की बूँदों से मिट्टी भीग चुकी थी और सोंधी खुशबू से दोनों के चित्त आनंदित हो रहे थे। दोनों चुप ! बस, हृदय से निकलने वाले अलौकिक एक तरंग का आदान-प्रदान !

"माँठी लाये ?" अपनी उत्सुकता को मैं रोक न पायी।

"हाँ लाया न ! यह लो।" कहते हुए थैले में से उन्होंने माँठी की पोटली निकाली।

"महुए की रोटी ? माढ़ा ? कहाँ है ?"

"हाँ, है न ! सब लाया हूँ ! यह लो। कहते हुए दो अन्य पोटलियाँ अपने थैले में से निकालीं।

"और----और--- सूखा झींगा ?"

"लाया हूँ, यह देखो---- एक अन्य पोटली भी मुझे थमा दी। इन पोटलियों के साथ में एक बड़ा पका कटहर भी रहता।

"और कुछ ?" - प्यार से पूछा।

"नहीं, अब बस !"-एक हल्की हँसी के द्वारा 'मेरे बस' का जवाब उन्होंने दे दिया। और फिर माँ को कुछ पोटलियाँ थमाते हुए कहने लगे - "भाभी जी, यह मसूर का सत्तू, यह उरद का, और यह बोकला का बेसन।"

"अरे, पहले पानी तो पी लें !"----- सम्मान के साथ माँ बोली।

"सच मानिए भाभी ! बच्ची की हँसी और चहकती आवाज से तृप्त हो जाता हूँ। यहाँ, बच्ची के साथ व्यतीत चार-पाँच दिनों की प्राप्त खुशियाँ ही मेरे वर्ष भर की खुराक है I" - बोलते समय उनकी आँखों में संतोष झलक उठा। माँ केवल मुसकराकर रह गयी।

"ओ बचिया--आ--आ ! एक चीज तो रह ही गया।"

"क्या रह गया ?" - उत्सुक होकर मैंने पूछा।

बिना कुछ बोले ही उन्होंने मिठाई का डब्बा मुझे थमा दिया।

"अरे हाँ, यह तो भूल ही गयी थी !" किलकारी मारकर मैं हँस पड़ी।

चार-पाँच दिनों तक मैं खुशियों के सागर में गोते लगाती रही। उसके बाद ! सागर के ऊपर, आकाश में बिखरे हुए बादल दिखने लगते। जल बरसाकर मेरी खुशियों को बहा कर ले जाने वाले बादल ! उन्हें आये हुए अभी दो दिन ही बीते थे कि लाड़ दिखाते हुए मैंने कहा - "फौजी भाई, इस बार न जाने दूँगी, आप यही रहिए न !"

कुछ पल के लिए वे चुप होकर शून्य आकाश की ओर देखने लगे और फिर एक ठंडी आह भरकर बोले - "यहाँ नहीं रह सकता बच्ची !",

"क्यों ?"

"क्योंकि फौजी भाई घर में नहीं, देश की सीमा पर शोभित होते हैं।"

"जरूरी है ?"

"हाँ बच्ची। जिस प्रकार बागीचे में फूल शोभित होते हैं, आकाश में चंद्रमा, नदी में तरंग, समुद्र में लहर--- उसी तरह सीमा पर फौजी शोभित होते हैं, समझी ?

"नहीं समझी, बिलकुल नहीं समझी।"- तुनकती हुई मैं बोली।

फौजी भाई हँस पड़े।

"अच्छा ठीक है !"- प्यार से मेरे सिर को सहलाते हुए वे बोले - "तुम्हारे छोटे- से मस्तिष्क में ये बातें नहीं आयीं न ? कोई बात नहीं, बड़ी होने पर समझ जाओगी।"

"हाँ, और--और बड़ी होने पर मैं भी आप के साथ चलूँगी !" खुशी से सिर हिलाते हुई मैंने कहा।

"ना बच्ची" - बड़ी दृढ़ता से वे बोले - "मैं देश की सीमा पर, बाहरी शत्रुओं से लड़कर देश की रक्षा करता हूँ लेकिन तू----! देश में ही रहकर, देश के अंदर रह रहे शत्रुओं से लड़कर देश वासियों की रक्षा करना। हम तो जमीन के लिए भी लड़ते हैं, तुम लड़ना लोग में जमीर जगाने के लिए। हम लड़ते हैं देश के मस्तक को ऊँचा रखने के लिए और तुम लड़ना, इस मस्तक पर तिलक लगाने के लिए।" उस समय उनकी बातें मेरे समझ में बिलकुल नहीं आयीं, किंतु आज सोचती हूँ - "कितनी गहरी बातें उन्होंने कही थीं।"

मेरा नाम सुधा है, लेकिन फौजी भाई ने कभी भी मुझे इस नाम से नहीं पुकारा। 'बच्ची' - यही नाम दिया था। नाम था या संबोधन --- पता नहीं, किंतु मुझे बहुत अच्छा लगता। वर्ष में उन्हें जो छुट्टियाँ मिलतीं, उसमें से सप्ताह-भर के लिए ही मेरे घर आते और एक सप्ताह में ही मानो वर्ष-भर से अतृप्त हृदय, तृप्ति के लिए एक-एक क्षण में प्रेम रस के कई घूँट पीने के लिए आकुल रहता। मेरे घर उनके आने का एक कारण था।

मैंने अपनी दादी से सुना था कि जब मेरे दादा जी को नौकरी मिली थी, तब वे वैद्यनाथ धाम गये थे। वहीं, मंदिर के बाहर एक चबूतरे पर बैठे हुए दस-ग्यारह वर्ष के एक बालक को उन्होंने देखा, जो बिलख-बिलख कर रो रहा था। पूछने पर पता चला कि उनका नाम 'रम्भू' था और वह गोरखपुर से यहाँ आया था। न कोई जान-पहचान, न पास में रुपये - इतनी बड़ी भीड़ में अकेला और भूख से व्याकुल था। मेरे दादा जी ने यहाँ आने का कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि माँ-बाप हैं नहीं, चाचा भी खाने के बदले चार बातें सुनाते हैं, इसलिए घर छोड़कर कमाने निकला हूँ। भोलेनाथ के द्वार पर भला कोई अनाथ कैसे रहता ! उन्होंने ही मानो मेरे दादा जी को उस बिलखते

बालक का सहारा बनाकर भेज दिया था। मेरे दादा जी उन्हें अपने साथ घर ले आये। शुरू के दिनों में वे घर का काम करते। मेरी बुआ और पापा के जनम के बाद, इनकी देखभाल की। हाँ, उन्हें अपने घर का पता मालूम था, मगर वे गये नहीं। जब उन्होंने युवावस्था को प्राप्त किया, तब भी वे घर की चाकरी करे - ऐसा न मेरे दादा जी को पसंद था, न दादी को। इसलिए वहीं अदालत में चाय-पानी पिलाने के लिए उन्हें रखवा दिये। आज----मैं उन्हें बाबा कहती हूँ। प्यारे बाबा ! मेरे बचपन का बचवैया ! तो मैं कह रही थी कि----सुबह, अदालत खुलते ही वे वहीं रहते, और शाम में बंद होने पर घर आते। लोग की कृपा पर ही उनका मेहनताना टिका था। पच्चीस-पचास पैसे उन्हें अपनी मरजी से कोई दे देते। जितने भी पैसे उन्हें मिलते - सब हम भाई-बहनों पर खर्च कर देते, विशेषकर मुझ पर। बाद में, उन्हें बहुत समझाया गया कि वह अपने घर चले जाएँ और शादी-ब्याह करके अपनी गृहस्थी बसाएँ, किंतु उनके प्राण तो हम सभी में बसे थे, घर जाकर गृहस्थी क्या बसाते ! इसलिए शादी नहीं की। हाँ कभी-कभी अपने घर गोरखपुर जाकर अपने सगे-संबंधियों से मिल आते। कभी-कभी गोरखपुर से भी लोग यहाँ मिलने आ जाया करते। विशेषकर तब, जब किसी को यहाँ शहर में इलाज के लिए आना पड़ता। उनका परिवार खेती- बारी पर टिका था। इसलिए, जब भी कोई आते, साथ में केला, दही, माढ़ा, सत्तू, कटहल आदि--- सौगात के रूप में जरूर लाते।

फौजी भाई इन्हीं 'रम्भू' बाबा के भतीजा थे। उन्होंने कई बार अपने चाचा से आग्रह किया कि वे अब उनके साथ रहें, किंतु बाबा नहीं गये, क्योंकि भावनात्मक डोर से उनके साथ हमारा रिश्ता मजबूती से बँधा था। उन्होंने प्रेम-शक्ति से यज्ञ की जो अग्नि प्रज्वलित की थी, उसमें अपने सर्वस्व की आहूति दे दी थी।

यही कारण था कि फौजी भाई उनसे मिलने जरूर आते, क्योंकि बाबा को वे अपनी जिम्मेवारी मानते थे।

यह भी विचित्र बात थी ! आये थे फर्ज वश, और बँध गये बाल-मुसकान से ! खून की पुकार से वे चले तो आये किंतु हृदय के मधुर रस में डूब गये। ज्यादा पढ़े-लिखे तो वे नहीं थे, मगर विचारों में गंभीरता अथाह थी। व्यवहार में शालीनता, भाव में आत्मीयता और जिम्मेवारी निर्वाह में अग्रसर - ये उनकी खास विशेषताएँ थीं। जब तक कुछ पूछा न जाए, वे कुछ बोलते नहीं। अक्सर मैं देखती कि वे बाबा के पास बैठे रहते मगर बातें ज्यादा न होतीं। जब भी आते, साथ रहने का आग्रह करते मगर, बाबा ने अपना विचार नहीं बदला।

एक दिन बातचीत के दौरान माँ फौजी भाई को बोली--- "अब ब्याह कर लें बबुआ।" वे कुछ न बोले, बस झेंप कर जमीन की ओर दृष्टि डालते हुए केवल मुसकराकर रह गये।

"शादी ठीक हो रही है कि नहीं ?"

"हाँ, बात तो चल ही रही है।" उनके अधर पर नपे- तुले मुसकान तिर गयी और चेहरे पर लज्जा की लाली छा गयी।

उन्हें शरमाते देख माँ को हँसी आ गयी। माँ ने पूछा - "कैसी दुलहिन चाहिए बबुआ ?"

वे चुप रहे, बस नीची आँखें कर एक हल्की हँसी बिखेर दी।

"बताएँ न ! मेरी जानकारी में भी अच्छी लड़की है !"- उन्हें शरमाते देख माँ ने उन्हें छेड़ा।

"अरे----कैसी क्या ! गोरी-श्यामली की कोई बात नहीं, बस घर-परिवार देखने वाली हो । साधारण रहन-सहन हो----और क्या !" - बड़े संयमित शब्दों में उन्होंने कहा ।

"और, पढ़ाई-लिखाई ?"

"पढ़ाई-लिखाई-----ठीक है, नहीं तो थोड़ी पढ़ी-लिखी भी चलेगी ।"

"क्यों ? आजकल तो सभी ज्यादा पढ़ी-लिखी बीवी चाहते हैं ।"

"नहीं, पढ़ी-लिखी से परहेज नहीं है, लेकिन समझदारी होनी चाहिए । कोई जरूरी नहीं कि डिग्री से समझदारी मिल ही जाए । डिग्री का आधार तो किताब है लेकिन समझदारी मिलती है- परिवेश, परिस्थिति और सद्विचारों से ही न ! और, व्यवहारिक जीवन में किताबी ज्ञान का उतना महत्त्व नहीं, जितना समझदारी का है ।" - बड़े दृढ़ता के साथ फौजी भाई ने कहा । बोलते समय मन में न कोई संकोच था न चेहरे पर लज्जा । संभवतः पहली बार, उन्होंने अपना विचार किसी विषय पर व्यक्त किया था । माँ भी चुपचाप सुनती रही । नियमित रूप से नियमबद्ध धाराओं में बहने वाली नदी में इतनी गहराई ! इतनी शुद्धता !

"ठीक ! शादी में आऊँगी जरूर । बुलाएँगे न ?" विचारों की गंभीरता से माहौल को मुक्त कराते हुए माँ ने बड़े सहज रूप से पूछा । अनायास उनके चहरे पर फिर लज्जा की लाली छा गयी । आँखें नीची कर , हल्की हँसी के साथ वे वे बोले - "कैसी बात करती हैं भाभी ? भला आप सबको ही न बुलाऊँगा ?"

"फौजी भाई---!" तभी मैंने लिपटते हुए कहा - "कल चिड़ियाघर चलेंगे न ?"

कुछ सोचते हुए उन्होंने कहा - "आज चलते हैं ।"

"नहीं; आज सोमवार है न ! चिड़ियाघर बंद है ।"

फौजी भाई कुछ सोच में पड़ गये। फिर अचानक अपनी आँखों को गोल-गोल करते हुए कुछ चहक कर बोले--" अरे ! मैं तो भूल ही गया था ! वहाँ तो अभी चिड़ियों के केवल अंडे ही होंगे।"

"क्यों ?" बड़ी सरलता से मैंने पूछा।

"क्यों क्या ? चिड़ियों ने अंडे दिए हैं, इसलिए।"

मेरी उत्सुकता पर पानी फिर गया। निराश होकर मैंने पूछा--"तो फिर ?"

"तो फिर---- चिड़ियों के अंडे से बच्चे निकलने दो---- बड़े हो जाएँगे तो ढेर सारी चिड़ियों को हम सब देखेंगे।"

"सभी चिड़ियों ने अंडे दिये हैं ?" सहज भाव से मैंने पूछा।

"हाँ, सभी चिड़ियों ने अंडे दिये हैं।"

"तोता, मैना, चाहा, कबूतर---सब-के-सब ?"

"हाँ, बत्तख, बगुला, हंस, मोर भी।"

फौजी भाई गंभीर होकर बोल रहे थे किंतु मेरा बालपन, मुसकान बनकर उनकी गंभीरता पर हावी होने के लिए बार-बार उद्धत था। कुछ सोचकर चहकते हुए मैंने कहा--"तो फिर, पहले अंडे ही देख लेते हैं !"

"अरे नहीं, अंडे नहीं देख सकते न !"

"क्यों ?"

"क्योंकि चिड़ियाँ उसे छुपाकर रखती हैं न।"

"अच्छा-----ठीक है !" हत मन से मैंने कहा।

दरअसल अगले दिन ही उन्हें वापस जाना था, फिर चिड़ियाघर कैसे जाते ! लेकिन--- इस बात की जानकारी मुझे नही थी।

उस समय मुझे इतना ही पता था कि फौजी लोग, बंदूक लिए दुश्मनों से लड़ते हैं। रात को खाना खाते समय मैंने उनसे पूछा - "फौजी भाई, आप दुश्मन को बंदूक से मार देते हैं ?"

मेरी नादानी ही सही, लेकिन अन्य देश के वीरों के लिए ऐसे शब्द उन्हें शायद अच्छे न लगे। बड़े प्यार से उन्होंने कहा -- "ना बिटिया, हमारा कोई दुश्मन नहीं होता। हम सब अपने-अपने फर्ज निभाते हैं। एक तरह से सभी भाई-भाई ही हैं, लेकिन इस रिश्ते से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है --- फर्ज। मातृभूमि के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह। जिस प्रकार हम अपने देश के प्रति अपना कर्तव्य निभाते हैं, उसी प्रकार, वे भी अपने देश के प्रति कर्तव्य निभाते हैं, इसलिए---- दुश्मन कहना ठीक नहीं। वे भी वीर होते हैं। किसी के बंदूक से वे मरते नहीं हैं---अपने देश के लिए शहीद हो जाते हैं। हाँ, जो आतंक फैलाते हैं, वे वीर नहीं हैं क्योंकि उनका कोई फर्ज नहीं होता। केवल अधिकार जता कर जन, समाज और देश को नुकसान पहुँचाते हैं। बाजू में बल रहने पर भी वे कायर ही हैं। सच पूछो तो, वे ही हमारे दुश्मन हैं।"

मैं उनकी बातों को बड़े ध्यान से सुनती रही, मगर पूरी बात समझ में नहीं आयी। ऊब कर मैंने कहा - "अच्छा छोड़िए----वो सियार और बकरी की कहानी ही ठीक लगती है।" यह सुनकर फौजी भाई खिलखिला उठे।

अगले सुबह उन्हें जाना था। मुझे किसी ने न बताया। रास्ते में खाने के लिए माँ ने जब उन्हें दलपूरियाँ दीं, तब मेरे कान खड़े हो गये। आँखें फाड़-फाड़ कर उन्हें देखती रही। चट्टान- सा दृढ़ व्यक्तित्व के स्वामी, जिन्होंने रात के सन्नाटे में भी अपने अन्तःमन की ज्योति से संसार के स्पष्ट रूप को देखा था, जिंदगी के साथ मृत्यु की छाया भी देखी थी, काल के तांडव से भी जो भयभीत न हुआ और जिनकी न कभी आँखें भरीं-- वे आज, विस्मित और फटी हुई मेरी आँखें देखकर द्रवित हो गये। मेरे चेहरे के भाव को पढ़कर

उनकी आँखें इस तरह भर आयीं, मानो आह सिक्त किसी मर्मस्पर्शी कविता या कहानी को उन्होंने पढ़ ली हो। फौजी भाई के अश्रु-प्लावित आँखों को देखकर मैं समझ गयी कि अब फौजी भाई जा रहे हैं और तब--- मेरे चेहरे पर छाया 'विस्मय,' उदासी में बदल गया। फटी आँखें धीरे-धीरे संकुचित हो गयीं। न मैंने कुछ पूछा, न उन्होंने कुछ कहा। बस, अश्रु-पूरित नेत्रों से एक-दूसरे को देखते रहे। हमारे इस लगाव को देखकर माँ-पिताजी की आँखें भी नम हो गयीं। मेरी मनोदशा देखकर पिता जी ने कहा - "फिर जल्दी ही हम मिलेंगे। दुखी क्या होना ! समय बीतते देर कहाँ होती ?"

फौजी भाई ने बलवत् अपने आप को सँभालते हुए अपनी आँखें पोंछीं और अधर पर मुसकराहट बिखेरते हुए मुझ से पूछा - "क्या लेकर आऊँगा तुम्हारे लिए ?"

"कुछ नहीं।" - मैंने धीरे से कहा।

उन्होंने बड़े प्यार से मुझे अपने हृदय से लगाकर कहा - "जल्दी आऊँगा, फिर--फिर हमलोग खूब घूमेंगे, ठीक है ? बोलो, क्या लेकर आऊँगा तुम्हारे लिए ?"

"कुछ नहीं। " - मैंने रूठकर कहा।

"जल्दी आऊँगा बिटिया। हाँ, क्या लोगी ?"

मैं चुप रही। आँसू बहाती हुई केवल सिर धुनकर 'नहीं-नहीं' कहती रही।

"अच्छा अगली बार जल्दी आऊँगा, और--और पूरी छुट्टियाँ हमलोग साथ बिताएँगे--- ठीक है ?" - बहलाते हुए उन्होंने कहा।

मेरी आँखों से अविरत आँसू बहते रहे। बस--- सिर धुनकर 'नहीं-नहीं' कहती रही। उन्हें जाने में देरी हो रही थी। माँ ने इशारे कर उन्हें कहा कि थोड़ी देर में स्वयं ही शान्त हो जाएगी।

फौजी भाई ने दीन दृष्टि से मुझे देखा और बुझे मन से चल पड़े। कुछ कदम ही आगे बढ़े होंगे कि मैं चीख पड़ी-- "फौजी भाई--ई-ई-ई, अब मत आइएगा, मैं आपसे बात नहीं करूँगी, कभी नहीं।" फौजी भाई रुक गये और पीछे मुड़कर अश्रुपूरित नजरों से मुझे देखने लगे और फिर--- देखते-देखते चले गये।

उस समय मैं बहुत छोटी थी। स्वतंत्रता, गणतंत्र और स्वराज्य का अर्थ नहीं समझती थी। बस छोटे से बाँस के डंठल में कागज का तिरंगा मिल जाए - खुशी से भर उठती थी। हाँ इतना जरूर समझती थी कि हमारे फौजी भाई की तरह ही अन्य लोग भी इसकी रक्षा के लिए लड़ते थे, किंतु लड़ना क्यों ? - यह समझ में नहीं आता, क्योंकि मैं सोचती कि लड़ने की क्या जरूरत है ? बाजार में तो बहुत बिकते हैं। मैंने यह प्रश्न फौजी भाई से भी पूछा था, लेकिन उन्होंने कहा था--- "थोड़ी बड़ी हो जाओगी न, तब समझ जाओगी।"

"बड़ी ? कितनी बड़ी ? तब कैसे जानूँगी ?" - मैंने पूछा था।

"बड़ी होने पर तुम अपने देश के बारे में बहुत सारी बातें पढ़ोगी, तभी जान पाओगी बिटिया।"

उन्होंने इस वाक्य से मेरी सारी उत्सुकता को बाँध दी थी और उस समय मैं चुप रह गयी----बड़ी होने के इंतजार में-----!

अचानक--1971 का वर्ष ! बंगला देश-पाकिस्तान के विभाजन का भीषण संग्राम छिड़ा। लोग के हृदय में दहशत थी। हृदय में ही नहीं, दिमाग में भी नाकारात्मक आशंकाओं के चित्र उभरा करते थे। मुझे भी वह दृश्य याद है। सभी के चेहरे पर भय स्पष्ट दिखता था। जिन पड़ोसियों से दुश्मनी थी, वे लोग भी साथ बैठकर देश के बारे में ही बातें करते नजर आते। उस समय मुझे इतना ही मालूम था कि हमारे देश की लड़ाई दूसरे देश के साथ हो रही है।

देखती कि दिन-भर पश्चिम दिशा से कई हवाई-जहाज, पंक्तिबद्ध होकर पूरब की ओर उड़ते रहते। हवाई-जहाजों का ताँता लगा रहता। लोग देखने से भी डरते थे, मगर मैं खिड़की से झाँक-झाँक कर देखती और चीखकर कहती-- "देखो-देखो ! मेरे फौजी भाई का जहाज जा रहा है।" आँखें संकुचित कर गौर से देखती - शायद फौजी भाई नजर आ जाएँ ! मगर------!

हाँ, शाम का दृश्य भयावह होता, जिसे मेरे बाल हृदय ने भी महसूस किया था। वह दृश्य था - पूरब दिशा धुंधलापन लिए लालिमा से भर जाती थी। ऐसा लगता था मानो कहीं भयंकर रूप से आग लगी हो और उसका प्रतिबिम्ब, आकाश के पूरबी दिशा में व्याप्त हो गया हो। उस समय पूरब दिशा से पश्चिम दिशा की ओर हवाई जहाजों के लौटने का ताँता लगा रहता। भयावह दृश्य देखकर मैं भी सहमी रहती, मगर आकाश पर नजरें टिक ही जातीं - शायद हवाई जहाज में फौजी भाई दिख जाएँ ! उस समय मुझे इतना ही मालूम था कि फौजी भाई इस युद्ध में शामिल हैं। जहाजों का ताँता देर रात तक लगा रहता। रात के सन्नाटे में इनकी डरावनी तेज आवाज से मैं डरी रहती। इतना ही नहीं, किसी भी घर में, गली-मोहल्ले में बिजली नहीं जलती। बिलकुल अँधेरा, जो मुझे अंतःमन तक भयावह लगता। मैं सोचती - "अब फौजी भाई आएँगे न, तो कहुँगी कि लड़ाई- झगड़ा न करें, मुझे बहुत डर लगता है।"

बीतते समय के साथ स्थिति सामान्य हो गयी। एक दिन मैंने देखा - मेरे रम्भू बाबा आँखें बंद कर बैठे हुए हैं। चेहरा तमतमा रहा था, बंद आँखों से आँसू गिर रहे थे। माँ-पिताजी भी सिर झुकाकर वहीं बैठे थे। इस असामान्य माहौल को देखकर मैं भी उदास हो गयी। मेरी आँखों में आश्चर्य भरा था। थोड़ी देर के बाद मैंने देखा - रम्भू दादा अपने आँसू पोंछकर, बड़े गर्व से उठे और कहने लगे - "आज तक उसने मुझे प्रणाम किया, और अब----- अंतिम प्रणाम मैं करूँगा। जाति- कुल का नाम ऊँचा कर दिया उसने।" होंठों पर जबरन् मुसकराहट लाने की वे कोशिश कर रहे थे, मगर मुसकराहट

फिसलकर चली जा रही थी और फिर--- वे फूट-फूट कर रोने लगे। मैंने देखा - माँ-पिताजी सिर झुकाकर बैठे थे और उनकी आँखों से भी अविरत आँसू झड़ रहे थे। मैं अवाक् सबको देख रही थी, लेकिन न मैंने किसी से कुछ पूछा, न किसी ने मुझे कुछ बताया।

घंटे-दो घंटे बाद मैंने देखा - 'रम्भू बाबा एक थैला के साथ कहीं जाने को तैयार थे। माँ-पिताजी भी वहीं खड़े थे। बाबा जब भी थैले के साथ जाते थे तो गोरखपुर ही जाते थे, जहाँ फौजी भाई का घर था। मैंने बाबा से लिपटकर धीरे से कहा - "बाबा ! आप गोरखपुर जा रहे हैं क्या ?"

उन्होंने मुझे देखा, मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए इशारे में 'हाँ' कहा।

"फौजी भाई के पास ?" - पूछते समय मेरी आँखें ख़ुशी से चमकने लगीं। दीन आँखों से बाबा मुझे देखने लगे। अपने पास लाकर माँ बोली -- "फौजी भाई वहाँ नहीं हैं।" बाबा चले गये। पंद्रह-बीस दिनों के बाद वे वापस आ गये, मगर मैंने फौजी भाई के बारे में कुछ भी न पूछा, क्योंकि बाबा के वापस आने की खुशी से ही मैं तृप्त थी। हाँ, गरमी की छुट्टियों का इंतजार था। छुट्टियाँ शुरू हुईं। दिन बीतने लगे, मगर फौजी भाई नहीं आये। मन बेचैन होने लगा। प्रतिदिन छत के मुँडेरे से झाँक-झाँक कर उनका इंतजार करती। एक दिन गोरखपुर से ही कोई व्यक्ति आये। मैं उन्हें नहीं पहचानती थी। वे भी रम्भू दादा के भतीजा ही थे। औपचारिक बातचीत के बाद उन्होंने मुझे बुलाकर एक थैला थमाते हुए कहा - "ये लो बिटिया - माढ़ा, और इसमें 'महुए की रोटी' और---और--ये झींगा---।"

"फौजी भाई नहीं आये ?" आश्चर्य के साथ रूँधी हुई आवाज से उनकी बातों को काटते हुए मैंने पूछा, क्योंकि इस समय तो वही ये सब लेकर आते थे।

रम्भू दादा का भतीजा उदास होकर कभी मुझे देखने लगे, और कभी मेरे बाबा को।

"फौजी भाई-ई-ई-- !"---- मैं चीख पड़ी। सभी के हृदय में सुप्त वेदना मेरी चीख से पुनः जाग उठी। बाबा, उनके भतीजा और माँ-पिता जी की आँखों से बहते आँसू देखकर भी मैं कुछ समझ न पायी। अपने आँसू पोछती हुई माँ ने मुझे गोद में उठा ली। माँ से मैंने रोते हुए पूछा - "उन्हें कभी नहीं आने के लिए कहा था, इसलिए गुस्सा गये हैं न ?" माँ चुप थी।

सिसकियों के साथ मैंने अपने आप से कहा - "पूरी छुट्टियाँ साथ रहने के लिए कह कर गये थे, दो दिनों के लिए भी नहीं आये ?"

"नहीं, नहीं ! आएँगे, अभी उनकी छुट्टियाँ नहीं हुई होंगी।" - माँ ने समझाया। मुझे भी माँ की बातों में सच्चाई लगी इसलिए मैं चुप हो गयी। पूरी छुट्टी मुँडेरे पर खड़ी-खड़ी उनका इंतजार करती रही, मगर वे नहीं आये। दो वर्ष इंतजार में और बीते ! दो वर्ष बाद मुझे पता चला कि वे शहीद हो गये। उस वक्त मैं शहीद का अर्थ जान गयी थी। विद्यालय जो जाने लगी थी ! "मेरे फौजी-भाई--- शहीद !" - बस यही बात मेरे दिमाग में घूमती रही। पिताजी ने मुझे समझाया - "शहीदों के लिए आँसू नहीं बहाये जाते, शहीद होना तो गर्व की बात है।" मैं अवाक् होकर फटी-फटी आँखों से पिताजी को देखती रही। मेरे आँसू कभी हृदय में पहुँचते और कभी वेदना बनकर आँखों में छा जाते। एक ही बात मेरे दिमाग में घूमती रहती - "फौजी भाई अब नहीं आएँगे ! हाँ, मैंने ही उन्हें आने के लिए मना किया था।" बाबा का दूसरा भतीजा, जो फौजी भाई के छोटे भाई थे--जब भी आते मेरे लिए वही सब लाते, जो फौजी भाई लाया करते थे क्योंकि फौजी भाई ने ही उन्हें कहा था कि यदि युद्ध भूमि से मैं वापस न लौटूँ तो-----, किंतु---मैं लेती नहीं क्योंकि मुझे चाहिए था--फौजी भाई का सानिध्य। वैसे भी, बेमौसम बरसात में बीज अंकुरित नहीं होते, फसल लहराते की बात तो दूर है, वे नष्ट हो जाते हैं। दिलो-दिमाग और आँखों में फौजी भाई बसे थे---किसी और के दुलार के लिए जगह कहाँ था ! जब यह बात जानकर मैं हतप्रभ हो गयी कि पुण्य पथ पर जाने के पहले

उन्होंने ही अपने छोटे भाई को कहा था कि यदि वे शहीद हो गये तो----! फिर---उनके भाई के द्वारा दी गयीं पोटलियों को मैं प्रसाद-स्वरूप ले लेती मगर एक भी खाद्य पदार्थ मेरे हलक से नीचे न उतरता।

दो महीने बाद मेरे स्कूल में परीक्षा आरंभ हुई। प्रश्न पत्र मिला। पहला प्रश्न था - "अपने देश के कुछ शहीदों के नाम लिखें।" अश्रु पूरित आँखों से मैं बार-बार प्रश्न को पढ़ती रहती। हृदय बिलख उठा किंतु, अधर पर मुसकराहट बिखेरकर उत्तर में मैंने तीन शब्द ही लिखे----- "मेरे फौजी भाई।"

अक्कील बाबा

"बाबा ! मैं जा रही हूँ।" अनमने ढंग से कहती हुई मैं इधर-उधर देखने लगी।

"कहाँ रे ?" कुछ बेचैनी के साथ उन्होंने पूछा। मैं चुप रही। जिसके हृदय में हमारे लिए प्रेम की नदी बहती हो, उस नदी में कभी-कभी परिहास वश कोई छोटा-सा पत्थर फेंक कर, तरंगों की उथल-पुथल देखने से आँखों को तृप्ति मिलती है और पत्थर फेंकने से उत्पन्न आवाज 'छपाक' बहुत ही कर्णप्रिय होती है। उद्वेग के कारण सहसा उनकी पथराई आँखें जीवंत हो उठीं। मुझे चुप देखकर उद्वेजित होते हुए उन्होंने पुनः पूछा---"अरे बोलती काहे नहीं ! कहाँ जा रही है ?"

"ससुराल।" मेरा सटीक उत्तर था जिसमें मेरा अभिनय छिप गया था। अधर पर हल्की हँसी और लज्जा के भार से झुकी मेरी आँखें, मेरे मन में उठी उमंग के तरंग को गिन रही थीं। मुझे आशा थी कि मेरी बात सुनकर वे भी खुश होकर कुछ बोलेंगे, किंतु जब उन्होंने कुछ न कहा तब मैंने अपमें होंठों पर बिखरी हँसी और आँखों में छायी लज्जा को समेटते हुए तिरछी नजरों से उन्हें देखा। मैंने देखा---अपने होठों को फैलाए वे निःशब्द हँसी हँस रहे थे। उनकी पथराई आँखें चमक उठी थीं मानो आँखों में भरे बात्सल्य रस पर ख़ुशी की धूप पड़ने से इंद्रधनुष की सुखद छटा दृश्यमान हो रही हो।

"बाबा !" मैंने लाड़ देखाते हुए कहा----"मैंने जो कहा, आपने सुना न ?"

"हाँ सुना।" उन्होंने रूँधे हुए कंठ से कहा।

"हाँ तो आपकी आवाज रूँधी क्यों है ? क्या ससुराल न जाऊँ ?" उनकी आँखें छलक उठीं। कंकाल-सदृश अपनी हथेलियों से आँसू पोछते हुए,

गद्गद हो उन्होंने कहा----"नहीं बचिया ! मैं तो इंतजार ही कर रहा था कि पहले तुम जाओ, फिर मैं भी चला जाऊँ। बड़ा लोभी हूँ न ! तुम्हारे साहचर्य से मिली खुशी का एक पल भी छोड़ना नहीं चाहता था न ! इसीलिए तो अब तक यहीं था।"

"लेकिन आप कहाँ जाएँगे ?" मैंने आश्चर्य से पूछा ?

"भगवान के घर, और कहाँ !"

"बाबा---!" मैंने झिड़कते हुए कहा----"आप बहुत गंदे हैं---बहुत-बहुत बुरे हैं ! यदि ऐसी बात है तो जाइए ! न मैं विवाह करूँगी, नाहीं ससुराल जाऊँगी।" मुँह फुलाकर मैं उनके खाट पर बैठ गयी। मुझे गुस्से से तुनकते देखकर वे हँस पड़े। मेरे हाथों को सहलाते हुए बड़े प्यार से बोले----"अरे ना बचिया ! ऐसा नहीं कहना चाहिए। यह तो बड़ी खुशी की बात है।"

"तो फिर आपने दुखी करने वाली बात क्यों कही ?"

"ना बिटिया ! अब तू बड़ी हो गयी है न ! सच्चाई का सामना करना सीख। और---सच्चाई तो यही है न कि इस मृत्यु लोक में सभी की मृत्यु निश्चित है। वैसे भी, तुम्हारी दादी वर्ष भर से वहाँ मेरा इंतजार कर रही है। खैर छोड़ इन बातों को।" अपनी भावना को संयमित करते हुए उन्होंने कहा----"तीन दिन पहले ही तो तुम्हारे बापू यहाँ आये थे, उन्होंने तो यह शुभ समाचार न दिया ! उनकी छोड़, कल सुबह तू भी यहाँ आयी थी !" प्यार वश उनके ढीले कपोलों को पकड़ते हुए मैंने कहा----"क्योंकि कल शाम को ही बात पक्की हुई है न बाबा !" मेरे होंठों पर फिर से हँसी दौड़ पड़ी। भावना के बादल कुछ पल के लिए सूर्य को ग्रसित कर गया था। अब बादल छट गये---सर्वत्र प्रकाश-ही-प्रकाश था। "अच्छा बता तो---ब्याह कब है ?" मैंने झेंपते हुए कहा---बापू आकर बता देंगे। और हाँ----तुरत ही अपनी झेंप को त्याग कर, उँगली दिखाकर धमकाती हुई मैं बोली---याद रखो बाबा ! विवाह में

आपको आना ही होगा !" उन्होंने हल्की हँसी के साथ हुए 'हामी' भर दी। मैंने महसूस किया---उनकी आँखों की आर्द्रता में प्रसन्नता के हंस, तृप्ति के मोती चुगने हेतु विचरण कर रहे हैं।

दो माह बाद मेरा विवाह होना तय हुआ ! विवाह के सप्ताह भर पहले से मेरा कहीं आना-जाना निषिद्ध हो गया, इसलिए बाबा से मैं नहीं मिल पायी। हाँ, सप्ताह भर पहले जब मैं उनसे मिलने गयी तो फिर से धमकाती हुई बोली--- "बाबा ! अब घर से निकलना न हो पाएगा मगर याद रखना----! विवाह में नहीं आये तो----समझ गये न ?"

"क्यों ? विवाह के बाद तू अपने बाबा से मिलने नहीं आओगी ?"

आऊँगी, लेकिन बातें न करूँगी।"

"अच्छा-अच्छा ! मैं अवश्य आऊँगा। ठीक ! अब तो खुश हो न ?"

"हाँ !" मैंने मुसकराते हुए कहा किंतु मेरे हृदय के निरभ्र आकाश में अनायास घटा छा गयी, जो प्रलयंकारी रूप से बरसने के लिए उद्धत हो उठी। हम दोनों एक-दूसरे को दीन आँखों से देखने लगे, मानो ---मानो जिगर में उमड़े तूफान को धैर्य ने बलवत् बाँध रखा हो। किंतु---अनायास बाँध टूट पड़ा और हम दोनों एक-दूसरे से लिपटकर फूट पड़े। घटा बरस रही थी---तूफान के साथ। वर्तमान छटपटा रहा था, लेकिन मौन निमंत्रण देकर समय अपनी गति के साथ हमें बहा ले जाने के लिए उद्धत था।

और ऐसा ही हुआ। बाबा अपने पोते और लाठी के सहारे मेरे विवाह में शामिल हुए थे। मेरे पिता जी ने उनका हार्दिक स्वागत किया था किंतु मेरी विदाई के पूर्व ही वे लौट गये थे। जब मैं माह भर बाद अपने ससुराल से मायके आयी तब मैंने अम्मा को कहा---"अम्मा ! बाबा के लिए मैं धोती-कुर्ता लायी हूँ, थोड़ी मिठाइयाँ बाँध दो, बाबा से मिलकर आती हूँ।" वह

यथावत् बैठी रही। उसके चेहरे का भाव मुझे सामान्य न लगा। मैंने पूछा----
"क्या हुआ अम्मा ?"

आह भरते हुए उन्होंने कहा--"अक्कील अब नहीं रहें।"

"बाबा नहीं रहें ! मैंने मन-ही-मन कहा---यानी कि मेरे जाने के बाद सच में वे चले गये ! भगवान के पास !" शोकातुर हो मैं उनके घर गयी। वह बरामदा, जहाँ वे चिर तपस्वी सदृश अपने ध्येय के प्रति समर्पित रहते थे और जीर्ण शरीर के साथ यहीं एक खाट पर पड़े रहते थे----आज सुनसान पड़ा था। भाव शून्य हो मैं उस स्थान को अनिमेष देखती रही। मैंने बाबा से एक बार पूछा था---"बाबा ! आपने यहाँ बरामदे में खाट क्यों लगवाया ? अंदर कमरे में क्यों नहीं लेटते ?"

उन्होंने कहा था---इस स्थान से मेरी रोजी-रोटी का संबंध है बिटिया ! जितना मेरे भाग्य में था, यहीं बैठकर मैंने पैसे कमाए, यहीं से घर-गृहस्थी सँभाली, इसीलिए अब इस स्थान को जीते-जी तो न छोड़ूँगा।" पुनः आँखों में बात्सल्यता की चमक भरते हुए उन्होंने कहा----"और--यहीं तो मेरे टूटे हृदय को जीने का सहारा मिला है---हँसने का बहाना मिला है, इसलिए मेरे लिए यह स्थान स्वर्ग तुल्य है।" मैं समझ गयी कि उनका वक्तव्य मेरे लिए था। उनके हृदय की अभिव्यक्ति सुनकर उस समय मैं गद्गद भाव से केवल मुसकरा उठी थी किंतु आज----! बाबा का सुनसान स्वर्ग देखकर आँखों से अविरत आँसू बह निकले।

उनका परिवार भरा-पूरा था। परिवार में एक पोता, उसकी पत्नी और दो बच्चे भी थे। उनके साथ कब--कहाँ--कैसे आदि प्रश्नों का सिलसिला जारी रहा। जब वहाँ से चलने को हुई तो उनके पोते ने दो बड़े डब्बे मुझे थमाते हुए कहा----"बाबा ने कहा था कि जब भी आप यहाँ आयें, ये दोनों डब्बे आपको सौंप दूँ।" बिना कुछ बोले मैंने बारी-बारी से दोनों डब्बे खोले तो

देखा---एक में मेरे लिए लाल मखमली जड़ीदार चप्पल, और दूसरे में मेरे पति के लिए नक्काशीदार नागरा जूता। उनके पोते ने कहा----"विवाह के समय जूते-चप्पल उपहार में नहीं दिये जाते हैं न, इसीलिए बाबा ने बाद में देने को कहा था।"

मैंने धीरे-से पूछा---"लेकिन उन्होंने बनाये कब ? जिस समय मैंने अपने विवाह की बात उन्हें बतायी थी, वे तो काम करने की स्थिति में बिलकुल नहीं थे !"

"बहुत पहले से ही उन्होंने आपको देने के लिए बना रखा था।"

मुझे ध्यान आया---! एक बार मेरी नजर इस रंगीन चप्पल पर पड़ी थी। मैंने प्रशंसा करते हुए कहा था---"वाह ! इतना सुंदर चप्पल ! और---और ये जूते ! किसके हैं बाबा ?" सिलाई करते हुए उन्होंने मुसकराकर मुझे देखा और पूछा----"तुम्हें ये पसंद हैं ?"

"हाँ--लेकिन हैं किसके ?"

हल्की हँसी के साथ उन्होंने कहा---"ये राजा-रानी के जूते-चप्पल हैं।"

"राजा-रानी ! क्या बाबा ! अब राजा रानी कहाँ रहें ! देश तो प्रजातंत्र है !"

उन्होंने आह भरते हुए कहा---प्रजातंत्र की बात मैं क्या जानूँ बिटिया ! जब देश गुलाम था, तब भी मेरे दादा-परदादा चप्पल-जूते सिलते थे और जब आजाद हुआ, मेरे बाबूजी सिलते थे औए अब मैं !" तुरत ही वे अतीत से आरंभ हुए वर्तमान तक की कसक को अपनी मुसकराहट से बाँधकर, आनंदित होते हुए कहा----"हाँ, राजा को तो मैंने नहीं देखा, किंतु जो रानी है न, उसका महल बहुत विशाल है।"

"क्या ! बहुत विशाल महल है ! लेकिन है कहाँ ?"

"मेरे हृदय में ।"

"बाबा !" मैं खीझ उठी---"फिर से बेतुकी बातें !" वे खिलखिला उठे। तुरत ही गंभीर होकर बड़े प्यार से उन्होंने कहा---"बेतुकी बातें नहीं है रे ! समय आने दे, सब समझ जाएगी ।" और अब मैं---उनकी रानी बिटिया ! अनुपम उपहार लेकर फूट-फूटकर रो पड़ी।

'अक्कील बाबा' ! हाँ, मैं उन्हें अक्कील बाबा ही कहती थी क्योंकि उनका नाम ही 'अक्कील' था जबकि सुना गया था कि उन्होंने अक्कील (बुद्धि) वाला कोई काम न किया था। अपने रूढ़ व्यवहार के कारण सभी से बिगाड़-ही-बिगड़। कला के धनी अवश्य थे किंतु हृदय से कंगाल। क्या मजाल कि कोई आदमी क्या, एक कुत्ता भी इनके पास कुछ देर तक बैठा रहे ! उनकी कलाकारी और कार्य के प्रति ईमानदारी के कारण, मोहल्ले-भर के तो नहीं, किंतु कुछ गिने-चुने लोग अपने पैर के नाप के जूते बनवाते थे। वैसे मोहल्ले में जूते पहनने वाले थे ही कितने लोग ! अधिकांश तो ठेला-रिक्शा चलाकर ही अपनी जीविका की पूर्ति किया करते थे।

उस समय मैं बहुत छोटी थी---अनुमानतः पाँच-छः वर्ष की। जनवरी के माह में मेरा नामांकन एक विद्यालय में होने वाला था। उसके तीन माह पहले ही मुझे लेकर पिता जी अक्कील बाबा के पास आये थे---जूते सिलवाने के लिए मेरे पैर का नाप देने। वे भी अपने जूते यहीं सिलवाया करते थे। मैंने देखा---बड़ा-सा बरामदा प्लास्टर वाला ! सामने वाले दीवार पर कीलों के सहारे तीन जोड़े चप्पलें और दो जोड़े जूते टँगे थे---काले और भूरे रंग के। अपने पैर का नाप देते समय मैं बहुत खुश थी। नाप देने के बाद मैंने झट उनसे पूछा---"जूते कब-तक देंगे ?"

"जब बन जाएँगे।" उनका सटीक जवाब था। मुझे बड़ी निराशा हुई। सहमी आँखों से मैंने पिता जी की ओर देखा। मुझे देख उन्होंने सिर हिला दिया मानो आश्वासन दे रहे हों कि चिंता न करो, जूते जल्द ही मिल जाएँगे।

अक्कील बाबा का घर मेरे घर से दूर नहीं, बल्कि दो गली बाद ही था लेकिन उनकी गली से मेरा कोई वास्ता न था। रहता भी कैसे ! उस गली में न तो कोई बिस्कुट-चॉकलेट-लेमचूस (लेमनजूस) की दुकान थी नाहीं छोटे-छोटे खिलौनों की। फिर भला मैं वहाँ क्यों जाती ! अन्यथा पूरा मोहल्ला मेरा अपना घर था। किसी दुकान से पाँच पैसे का नेमचूस, किसी दुकान से बाघ-हाथी-सूअर-बकरी वगैरह की आकृति वाले बिस्कुट, जो एक-एक पैसे में बिकते थे---सभी की खरीददारी अपने मोहल्ले में ही संभव था। और नहीं तो किशोरी चाचा के पान की दुकान ! घर में कोई मेहमान आये नहीं कि उनके सभाजन हेतु पान के लिए वहाँ तक के लिए दौड़ आरंभ !

खैर ! मैं अक्कील बाबा की बातें कर रही थी। जब से जूते के लिए पैर का नाप देकर आयी थी, मेरी दिनचर्या ही हो गयी----दोपहर के बाद प्रतिदिन उसके पास जाना और आशांवित हो पूछना----"बाबा ! मेरे जूते सिल गये ?"

"अभी नहीं।" किसी अन्य जूते की सिलाई करते हुए, मेरी ओर बिना देखे ही बड़ी बेरूखी से वे बोल देते। हताश होकर मैं कुछ देर वहीं खड़ी रहती। फिर पूछती--"ये जूते मेरे नहीं है ?"

"अरे नहीं भई !" वे कुछ खीझ कर बोलते।

"तो---मेरे जूते ?"

"जब बन जाएँगे, दे दूँगा। अभी जाओ, सिर मत खाओ।" मैं उदास होकर वहाँ से लौट आती मगर---अगले दिन फिर नयी आशा के साथ वहाँ जाती लेकिन मेरे वही सवाल और उनके वही उखड़े-से जवाब ! सच तो यह था

कि लोग उन्हें 'खरूँस बुड्ढा' उपनाम से जानते थे। मुझे भी उनका व्यवहार अच्छा नहीं लगता लेकिन अपने जूते देखने की लालसा के कारण कभी-कभी उनकी झिड़की भी सुन लेती थी। जो भी हो, मेरे लिए वही सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे क्योंकि वे मेरे लिए जूते सिल रहे थे और उस जूते के लिए मैं बहुत ललायित थी।

मगर हाँ ! उनमे एक जबरजस्त विशेषता थी ! वह यह कि उन्हें केवल अपने काम से मतलब था। उनके बरामदे के सामने जो परती जमीन थी, वास्तव में वह मोहल्ले वालों के लिए वाक्युद्ध भूमि थी। आये दिन वहाँ झगड़ा होता रहता था लेकिन क्या मजाल कि काम छोड़कर उनकी नजरें कभी उधर गयी हों !

एक दिन मैंने अपनी माँ को, अपने भिन्नाते भाई से कहते सुना----"थोड़ा सब्र करो ! रोटियाँ बन ही रही हैं न ! विशेष काम से बाजार गयी थी, वरना जाती भी नहीं। बाप रे ! थोड़ी भूख क्या लग गयी---आसमान सिर पर उठा लिया ! बोली की सारी मिठास गायब !"

मैं चौंक उठी --"क्या ! भूख लगने पर लोग रूखापन दिखाते हैं ! इसका मतलब---इसका मतलब बाबा भूखे रहकर जूते सिकते हैं ! हाँ ! तभी तो वे सीधे मुँह बातें नहीं करते।"

अगले दिन माँ ने मुझे भुना हुआ भुट्टा खाने के लिए दिया। फिर क्या था ! उसे लेकर मैं खुशी-खुशी यह सोचकर उनके पास गयी कि आज उनका पेट भर जाएगा और मुझ से अच्छी तरह बातें करेंगे। और--और मेरे जूते भी जल्द सिल देंगे।" दौड़ी-दौड़ी मैं उनके पास गयी और और चहकते हुए उन्हें भुट्टा दिखाकर बोली---"बाबा ! यह देखिए !" मेरे हाथ में भुट्टा देखकर, विस्मय के साथ वे मुझे कुछ देर तक घूरते रहे, फिर अपनी शैली में मुँह बनाकर बोले----"क्या है यह ?"

"भुट्टा। आपके लिए लायी हूँ।" मैंने खुशी से कहा। उनकी आँखों में व्याप्त विस्मय भाव, धीरे-धीरे बात्सल्य भाव में बदल गया। मुझे देखते हुए धीरे-से पूछे---"मेरे लिए ! क्यों ?"

"आपको खाने के लिए और क्या !"

वे हँस पड़े। आज पहली बार उन्हें हँसते हुए देखा था। मुझे बड़ा अच्छा लगा। भावभीन हो वे मुझे कुछ पल देखते रहे, फिर बड़े इतमीनान से बोले---"आ बैठ जा।" मैंने मन-ही-मन सोचा---सच में इन्हें भूख लगी रहती थी, इसीलिए खीझे रहते थे और मुझे जाने को कहा करते थे।"

मैं बैठ गयी। चहकते हुए मैंने पूछा----"इसके दाने छोड़ा दूँ बाबा ?"

"ना बिटिया ! मैं नहीं खा सकता।" उनकी आँखें में आर्द्रता छा गयी।

"क्यों बाबा ? मीठे हैं, खाकर तो देखें !"

"दांत नहीं है न ! लेकिन---बिन खाये ही स्वाद मिल गया।" उनका गला भर आया था।

"लेकिन पेट तो नहीं भरा न ?"

"तू खा ले, मेरा पेट भर जाएगा--हमेशा के लिए।"

"ऐसी बात है ?"

"हाँ बिटिया ! बिलकुल ऐसी ही बात है।" और सच में, उनका पेट भरा रहता----हमेशा-हमेशा। अब मुझे देख वे खुश हो जाते। ऐसा लगता मानो वे मेरे आने के इंतजार में रहते और आते ही मेरे अधसिले जूते दिखाते हुए कहते---"देख बिटिया ! तुम्हारे जूते सिल रहा हूँ।"

हाँ ! सुंदर है !" मैं खुश हो जाती किंतु तुरत ही मुँह बनाकर बोलती----"लेकिन--पूरे तो नहीं हुए न !"

मेरे भाव को आत्मसात् करते हुए वे भी मुँह बनाकर बोलते----"जूते ने ही मुझे मना किये कि मुझे जल्दी न सिलो।"

"जूते ने ही मना किये ! ऐसा क्यों बाबा ?" मुझे घोर आश्चर्य हुआ।

"इसलिए कि जब ये जूते सिल जाएँगे, यह बरामदा सूना हो जाएगा। यहाँ फिर कभी खिलखिलाहट नहीं गूँजेगी।"

"क्यों बाबा ?"

"जूते लेने के बाद तू यहाँ नहीं आएगी न ! इसीलिए।" उनकी बात मेरे समझ में नहीं आयी किंतु बेमन से मैंने कहा----"अच्छा ठीक है ! अब जूते ने ही कहे हैं तो उनकी बात तो माननी पड़ेगी न !"

मेरी बात सुनकर वे खिलखिला उठे। मैंने देखा--गली से गुजरने वाले लोग उन्हें आश्चर्य से देख रहे थे। कुछ तो मुसकरा भी रहे थे मगर किसी ने उन्हें टोका नहीं, शायद इसलिए कि उन्हें लग रहा था कि कहीं इन्हें नजर न लग जाये, और ये फिर से अपने पूर्व रंगत में न आ जायें। उनकी खिलखिलाहट सुनकर एक अर्धवृद्धा महिला घर से निकल कर बरामदे में आयीं और कुछ पल उन्हें आर्द्र नजरों से देखने के बाद भावभीन हो बोलीं----"वर्षों बाद आज सूरज पश्चिम से निकला है क्या जी ?"

अनायास उनकी हँसी रुक गयी। उन्हें बिन देखे ही एक दीर्घ निःश्वास के पश्चात् वे बोले----"सूरज तो पूरब से ही निकला है रे ! हाँ ! बादल भरे आकाश से धूप छन-छनकर आने लगी है ! पर ! देखते हैं ! कब तक ऐसा रहता है !"

अब मुझे भी उनके पास बैठने में बड़ा मजा आने लगा था। कभी मैं अपने छोटे भाई की शिकायत उनसे करती और कभी अम्मा से डांट खाने पर, उनकी शिकायत उनसे करती। और कभी चिड़िया, कुत्ता-बिल्ली पर नजर

पड़ते ही उनकी कहानी सुनाने को मिन्नत करती। अक्कील बाबा के साथ मेरी आत्मीयता बंध चुकी थी। हाँ एक बात और---! जब भी मैं वहाँ आती, उस अर्धवृद्धा महिला की आँखें चमक उठतीं, मानो वे भी मेरा इंतजार करती हों क्योंकि मेरी उपस्थिति अब अक्कील बाबा के लिए प्रसन्नता का कारण बन गयी थी और वे उन्हें प्रसन्न देखना चाहती थीं।

एक दिन मैं बरामदे में जाकर चुपचाप बैठ गयी। उन्हें देखकर न तो हुलस कर उन्हें 'बाबा' कहकर पुकारा, नाहीं कुछ कहा। उस समय वे एक चप्पल सिलने में तल्लीन थे। मुझ पर नजरें पड़ते ही वे चौंक उठे---"कब आयी बिटिया ? और यह क्या ! मुँह क्यों लटका है ? किसी ने कुछ कहा क्या ?"

"हाँ ! माँ ने थप्पर लगा दिया।" रूआँसी होकर मैं बोली।

"थप्पर लगा दिया ! क्यों ?"

"उन्होंने मुझे दूध पीने को दिया, तो वह गिर गया।"

"हाँ तो थप्पर लगा देंगी ! यह क्या बात हुई ! माँ भी कहीं ऐसी होती है !" बाबा ऐसे गुस्सा उठे मानो उनका वश चलता तो माँ को खूब खरी-खोटी सुनाते। मैंने झट उन्हें कहा----"मम्मी अच्छी है बाबा !"

"हाँ होंगी, किंतु बच्चे को थप्पर तो नहीं लगाना चाहिए न ! वो भी दूध गिरने पर !"

"बाबा !" उन्हें नाराज देख मैंने धीरे-से कहा----"दूध गिरा नहीं था, मैंने गिरा दिया था, जानबूझ कर।"

"क्यों ? तुम्हीं ने तो बताया था कि दूध तुम्हें बहुत अच्छ लगता हैं !" मैं चुप हो गयी। मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं था। अपनी कल्पना शक्ति द्वारा निर्मित वाग्जाल में किसी को फँसाना बच्चों में कलात्मक प्रवृति होती है किंतु----! शायद मैं इस कला से अर्धवंचित थी। उन्हें सच्चाई समझते देर न

लगी कि मैं अपनी माँ का बचाव कर रही हूँ। उन्होंने मुसकराते हुए मुझे देखा और अपनी गोद में बिठाकर, मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए वे कँपकँपी आवाज में बोले----"सभी के ताप को अपने हृदय में छिपाने वाली बिटिया ! तुम्हारे जीवन में हमेशा शीतलता बरसे ! तू कितनी अच्छी है रे !"

"लेकिन लोग बहुत गंदे हैं।" मैंने मुँह बनाते हुए कहा।

"ऐसा क्यों कहती हो बिटिया ?"

"कुछ पता भी है लोग आपको क्या कहते है ?"

"हाँ ! मुझे सब पता है बिटिया ! अब सभी मुझे खरूस बुड्ढा कहते हैं लेकिन मुझे बुरा नहीं लगता। क्या करूँ ! सब समय की देन है !" पास ही बैठी उनकी पत्नी उन्हें दयनीय दृष्टि से देखने लगी।

"बुरा नहीं लगता ! क्यों ?"

बाबा की आँखें मानो शून्यता में कुछ ढूँढने के लिए व्याकुल हो गयीं। उन्होंने अपने-आप में बुदबुदाया---मैंने बेरुखी की चादर जानबुझ कर ओढ़ी है ताकि फिर से प्रेम और ममता की जाल में फँसकर मेरे प्राण न तड़पे। उनकी आँखें भर आयीं। उन्हें देखकर उनकी पत्नी बोलीं----"कब तक बेटे के शोक में धँसते रहेंगे !"

"ना रे ! आँसू अब कहाँ बहाता हूँ कि ममता की मिट्टी गीली हो और मैं उसमें धँसता जाऊँ ! अब तो अपने सारे दुःख को पत्थर बनाकर कलेजे पर रखा हूँ, लेकिन----देखो तो ! आज इसपर भी फूल खिल चुके हैं।" उनकी आँखों में आँसू थे मगर मुझे देखकर वे मुसकरा रहे थे। उन्होंने अपना सिर झटका, मानो अतीत के सागर से निकलने का प्रयास कर रहे हों। थूक घोंटते हुए वे बोले---अक्कीक नाम है मेरा--अक्कील ! इसीलिए खरूस बनकर सभी से

दूरी बनाने की अक्कीलमंदी दिखायी है किंतु----!" आगे कुछ वे बोलते, वे रो पड़े।

"क्या हुआ बाबा !" मैंने सहमते हुए पूछा।

"तुम्हारे कारण मैं फिर से बेवकूफ बन गया बिटिया !" उनकी बात मेरे समझ में नहीं आयी। माहौल बोझिल हो चुका था। उन्होंने इससे ऊबरते हुए कहा---"अच्छा बिटिया ! बताओ ! जूते पहनकर कहाँ जाओगी ?"

"स्कूल।" बुझे मन से मेरा संक्षिप्त जवाब था।

"पढ़ाई करने ?" मैंने चुपचाप सिर हिला दिया। उनकी आँखों से बहते आँसू, मेरे हृदय में संचित हो गये थे जिसमें मेरी चंचलता उस समय डूब चुकी थी। एक दिन उन्होंने आर्द्र आँखों में अपार दीनता भरकर मुझसे कहा---"जब जूते सिल जाएँगे, तब तो तुम यहाँ नहीं आओगी न बिटिया !"

"पापा से कहूँगी कि मुझे एक और जूते चाहिए।" उनके होंठों पर व्यथित मुसकान छा गयी। मुझ पर पड़ी उनकी निरीह आँखें सहसा झुक गयीं और सिले जाने वाले जूते पर जा टिकीं।

दोपहर के तीन बज रहे थे। मैं अक्कील बाबा के पास बैठी, उनसे कुछ बेतुकी बातें कर रही थी और वे मेरी बातें सुनकर हँस रहे थे। अनायास मैंने कहा---"बाबा ! मेरे जूते दिखाएँ न !" कुछ सोचते हुए वे बोले----"अभी नहीं दिखाऊँगा।"

"क्यों ?"

एक आह भरते हुए उन्होंने कहा----"हँसने के लिए जितना दिन खींच सकता हूँ, खींच रहा हूँ बिटिया।" उसी समय मेरे पिता जी वहाँ आ गये। उनकी अनुपस्थिति में मैं यहाँ आया करती थी, इसलिए अनायास उन्हें अपने सामने देख मैं सहम गयी। मेरा भय गलत न था। मुझे वहाँ बैठे देख मुझपर झिड़क

उठे और तब, अक्कीक बाबा की और उन्मुख होकर डपटते हुए उनसे कहा----"इतने दिन हो गये, अभी तक जूते नहीं बने ? समय नहीं था तो बोलते ! मैं दुकान से ही खरीद लेता !"

उन्होंने बिना कुछ बोले ही मेरे जूते उन्हें थमा दिये।

"कितने रुपये हुए ?" उन्होंने उसी रोष में पूछा।

"एक भी नहीं।" उनका भी सटीक जवाब था।

"एक भी नहीं ! क्यों ?" उनका रोष आश्चर्य में बदल गया था। कुछ पल चुप रहने के बाद, अपने मनोभाव पर नियंत्रण करते हुए बाबा ने आर्द्र स्वर में कहा---"बिटिया के जूते की रकम मिल गयी साहब ! इतनी रकम मिली कि मैंने अभी तक की अपनी गरीबी को दूर कर ली।"

पिता जी का आश्चर्य अब ग्लानि में बदल गया । उन्हें अपने क्रोध पर पश्चाताप हो रहा था किंतु चाह कर भी क्षमा माँगने में संकोच कर गये। माँफी माँगने का साहस सभी में नहीं होता। बलशाली-से-बलशाली कुछ लोग भी यहाँ कायरता दिखा जाते हैं।

पिता जी हतप्रभ हो बुत बने खड़े थे। उन्हें समझ ही नहीं आ रहा था कि वे क्या करें या अक्कील बाबा को क्या बोलें। बात्सल्य प्रेम से निकलने वाली एक किरण मात्र में ही उनका सप्तरंगी विचार-व्यवहार लुप्त हो गया था। मुझे आँसू पूरित आँखों से देखते हुए उन्होंने पिता जी को कहा---"जाइए साहब ! और---बिटिया को भी ले जाइए।" उनकी आँखों में आँसू देखकर पिता जी सहमते हुए बोले----"अक्कील ! बात यह है कि---!"

"कुछ नहीं साहब ! स्वाभिमान पर प्रेम हावी हो गया है। कंबखत हृदय को क्या कहूँ ! धोखा खाने के बाद भी नहीं संभला।" बात काटते हुए उन्होंने कहा I

मुझे बड़ा दुःख हुआ कि मेरे कारण अक्कील बाबा बात सुन गये। न मैं यहाँ आती और न बेचारे बात सुनते। पिता जी ने सफाई देते हुए कहा----"बात यह है अक्कील कि यह बिना बताए ही यहाँ आ गयी थी और---और कब से मैं इसे ढूँढ़ रहा था----।" उन्होंने आह भरते हुए सिर हिलाकर पिता जी द्वारा दी गयी सफाई की उपेक्षा की और फिर---सिलाई करते हुए चप्पल पर नजरें गड़ा दीं।

और मैं---! अपने जूते पहनकर खुश नहीं थी। बाबा को दिखाने भी नहीं गयी कि मेरे पैर में ये जूते कैसे दिखते हैं। मुझे भय था कि मेरे कारण बाबा फिर-से न बातें सुन जाएँ। स्कूल जाने में अभी सप्ताह-भर की देर थी। जिस जूते को पहनने के लिए मैं इतनी ललायित थी, अब केवल उसे सहलाकर रख देती थी। एक दिन पिता जी ने मुझे ऐसा करते देख लिया। उनका गला भर आया। उन्होंने मुझसे पूछा----"क्या जूते तुम्हें बहुत पसंद है ?" मैंने सिर हिलाकर कहा--"हाँ ! लेकिन पहनूँगी नहीं।"

"क्यों ?" उन्होंने आश्चर्य से पूछा। क्योंकि बाबा ने कहा था कि इसे पहन कर मुझे दिखाना और--और अब तो बाबा के पास मैं जाऊँगी नहीं न !"

वे भावभीन हो उठे। मुझसे पूछा----बाबा को जूते दिखाने जाओगी ?"

उन्हें देखकर मैंने सहमते हुए सिर हिलाकर 'नहीं' कहा।

"क्यों ?" उनका गला भर आया था I

"क्योंकि मेरे वहाँ जाने पर आप फिर से मेरे बाबा को डाँटेंगे।" पिता जी ने मुझे गले से लगा लिया। मुझे जूते पहनाए और रूँधे गले से बोले----"जा ! अपने बाबा को जूते दिखा दो। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। मेरा मुरझाया चेहरा अनायास खिल उठा और मैं बाबा के घर की ओर दौड़ पड़ी।

"बाबा !" मेरी चहक से मानो उनके बेजान शरीर में जान आ गयी । आँखे फाड़-फाड़कर मुझे देखने लगे और फिर अपनी बाँहें फैला दीं । खिलखिलाती हुई जब मैं उनके गोद में गिरी तो वे रो पड़े । उनकी तंद्रा तब टूटी, जब पिता जी ने रूँधे स्वर में उन्हें कहा---"मुझे क्षमा करना अक्कील ! समुद्र के जल को खारा समझकर, उसकी उपेक्षा करने वाला मैं, उसमें छिपी निधि को नहीं देख पाया था ।"

और तब से----अक्कील बाबा का घर, मेरा अपना घर हो गया ।

कलाकार

रात में वर्षा हुई थी, इसलिए जमीन नम थी। कपास के फूल-तुल्य सफेद बादल के छोटे-छोटे टुकड़े अभी भी आकाश में विचरण कर रहे थे, मगर पूरब दिशा में भगवान भास्कर दर्शन देने लगे थे। हवा के हल्के झोंके से भींगे गेहूँ की बालियाँ कुछ अलसाई-सी झूम रही थीं। मिट्टी की सोंधी गंध, गेहूँ की बालियों की गंध के साथ मिलकर अद्भुत मादकता फैला रही थी। मन मस्त करने वाला खूबसूरत वातावरण ! इस सुंदरता में भी किसानों की दीनता पलती है। हाथ में हँसिया और बगल में टोकरी रखकर बुधना खेत की आरी पर बैठे-बैठे गेहूँ की बालियों का निरीक्षण कर रहा था। कुछ सोचते हुए उठा और खलिहान की ओर मुड़ गया। कटाई के बाद यहाँ गेहूँ की बालियों का ढेर लगा था, जिसमें से अनाज निकाल लिए गये थे। बुधना ने एक नजर बालियों पर डाली और बैसाखी गुनगुनाते हुए बड़ी तन्मयता के साथ सींकें छाँटने लगा। एक-एक सींक को बड़े गौर से देखता, उससे सटे रेशे को हटाता और टोकरी में सजा-सजाकर रखता जाता।

"बाबू हो ! माई बुला रही है।"---- मंगोली ने आवाज दी।

"कह दे---- अभी देर होगी।" आवाज आती दिशा की ओर मुँह करके वह जोर से बोला। अपने काम में तल्लीन होकर मन-ही-मन बोला---"पता है, काहे बुला रही होगी। उस बिचारी को तो बस एक ही चिंता रहती है कि मुझे खाने में देर न हो जाए। कितना ख्याल रखती है ! और मेहरिया को देखो ! और को क्यों, भौजी को ही देख लो ! इसी फागुन में नकबेसर के लिए कितना बड़ा हंगामा खड़ा हुआ था ! उन्होंने तो भइया को साफ-साफ कह दिया था---'अजी ! सुन ला---अबकी फगुआ में नकबेसर न आया न,----

तब मन गया फगुआ !'----और ऐसा ही हुआ। अगजा (होलिका दहन) था चौर में,----और चिंगारी फैली भइया-भौजी के घर में ! होली मंडली में भइया का स्थान सूना था। कौन-सा मुँह लेकर जाते ! जग हँसाई का सामना करना आसान था का ? इज्जत वाले इज्जत के लिए ही मरते हैं न ! क्या पूआ, क्या पकवान----सब चौपट ! मगर फगुनिया ! कभी भी कोई माँग न की। फटेहाली को ही संजोगती रही और उसी को अपना भाग्य मानकर संतुष्ट रही।" बुधना का मन क्षुब्ध हो उठा। बैसाखी की गुनगुनाहट लुप्त हो गयी। तुरत ही अपने-आप को सांत्वना देते हुए मन में बोला----"कोई बात नहीं ! इस बार सींकें के पंखें, सूप-दौरी, टोकरी और डगरा बनाकर शहर में बेचूँगा और फगुनिया के लिए दो साड़ी और नकबेसर जरूर खरीदूँगा। जीतुआ बता रहा था कि शहर में पैसे वाले लोग रहते हैं, फिर उन्हें पचास-साठ रुपये के सामान खरीदने में क्या तकलीफ होगी ? वैसे भी, ऐसे सामान बनाने वाले शहर में होंगे कहाँ ? पता नहीं यह बात दिमाग में पहले क्यों न आयी !"

तुरत ही अपने पर झल्लाते हुए मन में बोला---कैसे आती ? गाँव के घर-घर के झमेले को देखता रहा, पर अपने हुनर को कभी न देखा। कौन नही बोला---"बुधना ! तू तो कलाकार है रे ! सींकें से पंखा, सूप दौरी-डगरा बनाने में तुम्हारा कोई जवाब नही, लेकिन अभागा मैं----फूलकर गुब्बारा हो गया, बस ! यह नहीं कि अपने हुनर को रोजी-रोटी का आधार बनाऊँ ! अपना खेत-पथार भी तो नहीं है ! बटाई पर खेती करने से तो अच्छा है यह काम !"

बुधना को रुपये कमाने का मानो कोई मंत्र मिल गया। प्रफुल्लित मन से बैसाखी गाते हुए घर की ओर लौटने लगा।

"हाट न जाना है ? दिन कब का चढ़ आया !" बुधना को देखते ही फगुनिया बोली।

"आज न जाऊँगा।" कुछ लापरवाही दिखाते हुए वह बोला।

"आयँ ! इ कौन बात है ! तरकारी न बेचेंगे तब खाएँगे क्या ? मोहनिया के दादा का कल श्राध (श्राद्ध) है, तब तो कल भी जाना न हो पाएगा ?" चौंक कर वह पूछी।

"तरकारी बेचने न जाएँगे, तब भी आराम से खाएँगे रे, आराम से ! समझी ? बस थोड़ा सबर (धीरज) धर। अब यदि एक-दो दिन न गया तो क्या हुआ ? घर में सत्तू है न ? चल ! सत्तूआ- प्याज ही खा लेंगे। कल तो भोज में पंचरंगा चलेगा ही ! न तो ऐसा कर ! मकई है न ? उसके आटा की रोटी बना ले, या फिर दरर कर दर्रा बना ले, मट्ठा संग खालेंगे लेकिन----आज न जाऊँगा। इन सींकों से अपनी कलाकारी दिखाने दे।"

फगुनिया सींकों को गौर से देखने लगी। उसका मन खिल उठा। हुलस कर बोली---"मैं भी बनाऊँ ?"

बुधना हँस पड़ा। चल ! आज परीक्षा हो ही जाए कि ब्याह के बाद सींकों से बने जिन सामानों को साथ में लेकर तू आयी थी---उन्हें तूने बनाये थे या किसी और ने।"

"हाँ तो ठीक है ! देख लें। पाउडर थोप कर गोर बने का शौक मेरे खानदान में किसी को न है ! जो है, सो है।"

"अच्छा ! बड़ा खानदान की इज्जत बचाने चली है !" बुधना ने छेड़ते हुए कहा।

"और नहीं तो क्या ! ससुराल की इज्जत के लिए जान भी दे दूँ और अपने नइहर के मान के लिए परीक्षा भी न दूँ ?" बुधना के होंठों पर छायी व्यंगात्मक मुसकान अचानक गायब हो गयी। उसकी आँखों में फगुनिया के लिए श्रद्धा उमड़ आयी। अपने परिवार के प्रति कोई पुरुष स्वयं कितना भी लापरवाह क्यों न हो, अपनी पत्नी को उनके प्रति समर्पित देखकर अपने-आप को धन्य

समझता ही है। और-तो-और, वैसे लोग पत्नी की 'समर्पित' धारा में अपना गुनाह भी धो लेते हैं।

बुधना कुछ न बोला। प्रसन्न चित्त हो गुनगुनाते हुए वह, फगुनिया के साथ डगरा, सूप, दौरी आदि-आदि बनाने में तल्लीन हो गया। अचानक गुनगुनाना छोड़ कर चहकते हुए वह फुसफुसा कर फगुनिया से पूछा----"याद है---शादी के बाद तू अपने साथ दो पंखे भी लायी थी ?"

"हाँ, खूब याद है।" उसके होंठों पर मुसकान तिर गयी।

"तूने क्या किया था, याद है ?" अतीत की मधुर यादों ने बुधना की आँखों में और होंठों पर सरस बूँदें बिछा दी थीं।

फगुनिया शरमाती हुई बोली---"ना, कुछ भी याद नहीं है।" बुधना खिलखिलाकर हँस पड़ा और फगुनिया----! पति की खिलखिलाहट के बोझ से उसका सिर झुकता चला गया। कुछ देर बाद वह धीरे-से पूछा----"अच्छा यह बता कि तुम्हारे दिमाग में क्या आया था जो एक पंखा सब से छिपाकर तूने मुझे दे दिया था ?"

फगुनिया शरमाती हुई बोली----"बाहर दलान में गरमी न लगती ?"

"नहीं लगती थी रे ! रात के दूसरे पहर तुम्हारे पास तो आता ही था न ?"

"लेकिन उसके पहले और बाद ?" शरमाते हुए उसने पूछा।

"पहले और बाद ? तुम्हें याद करता, तो मन शीतल हो उठता !"

"धत् !"--उसके चेहरे पर लज्जा की लाली छा गयी I शंकित दृष्टि इधर-उधर घुमाती हुई धीरे-से बोली----"कोई सुन लेगा !"

"सुन लेगा तो सुन लेगा ! डर है ? का कहेगा कोई ?"

"यही कहेगा कि बुढ़ापा में माऊग रोग लगा है।"

"अच्छा ! तो कहे ! यहाँ तो ऐसे लोग हैं कि मेहरारू को कूटो तो कोई कुछ न बोलेंगे, उलटे---तमाशा देखेंगे लेकिन साथ में हँसकर दो बातें करते क्या देख लिये,----जोरू का गुलाम बना दिये।"

आँखों में अपार श्रद्धा भरकर फगुनिया उसे देखने लगी। उसके चेहरे पर प्रेम की सहज सुंदरता देखकर बुधना की आँखें तृप्त हो गयीं, वरना कहाँ कभी समय मिलता कि दोनों एक साथ बैठकर अतीत के क्षणों से थोड़ा माधुर्य निकाल कर वर्तमान को मिठास से भर सके। रोज-रोज एक ही कहानी ! सुबह उठो----खेत से तरकारी तोड़ो----कभी गोभी, कभी बंद गोभी---कभी तोरी तो कभी मूली-गाजर उखाड़ो ! फिर हाट-बाजार----और थक कर घर ! अब उसने सोच लिया---सब्जी बेचने के लिए वह अपने बेटे मंगोलिया को भेजेगा और स्वयं सींकों से अपनी कलाकारी दिखाते हुए सजावट और जरूरत का सामान बनाकर शहर जाकर बेचेगा। एक पंथ तीन काज ! उसके अंदर की कला निखरेगी--- एक कलाकार के रूप में वह जाना जाएगा और कमाई भी अच्छी हो जाएगी ! फिर क्या ! बाग-तो-बाग, वीरानों में भी बारह मासा बहार ! काम में तल्लीन होकर वह कुछ-न-कुछ गुनगुनाता रहा। अचानक गुनगुनाना छोड़कर फगुनिया से बोला----"जानती हो, खूब रुपये कमा कर क्या करूँगा ?"

"वही जो मैं कहूँगी।"

"तू क्या कहने वाली है ?"

"यही कि दलान पर का छप्पर छवा लें।"

"धत् !" उसने कुछ और सोचा था। उसे लगा कि फगुनिया अपने लिए कुछ माँग करेगी। बोली में मिठास भर कर बोला----"अरे, छप्पर छवा जाएगा न ! उसका जिम्मा मेरे ऊपर है न ! तू क्यों चिंता करती है ? अभी पंडित जी के गेहूँ की दौंनी बाकी है। पुआल निकलने दे, छप्पर छवा जाएगा।"

"उ पंडितबा मुहँझौंसा ! रुपये के मामले में बेटी तक को न छोड़ा। समधी की भैंस बिकी दस हजार में, और थमाया उन्हें सात हजार। बताओ ! इतना भी कुकर्मी कोई होता है भला ! और न तो बेटी को धोखा ! और उ देगा पुआल ? पूला बनाकर दो-दो रुपये में बेच देगा, मगर मुफ्त में किसी को न देगा। उससे माँगने का मतलब है--जात भी गँवाया और भात भी न खाया ! उसका वश चले न, तो घर का ईंट-ईंट उखाड़ ले ! गाँव-भर में कौन उसे नहीं जानता ? मुँह में राम, बगल में छूरी !"

"न देगा तो न देगा ! महतो है न ? भले ही पैसे वाला नहीं है, लेकिन सबके दुःख-सुख में खड़ा रहता है। अपना काम हो जाएगा।" उसे सांत्वना देते हुए बुधना बोला।

"तो फिर-----!" वह सोच ही रही थी कि बात काटते हुए बुधना बोला---"कुछ नहीं ! तेरे लिए साड़ी लूँगा।"

"न-न रहने दें, हाथ में दो पैसा रहेंगे, तो काम आएँगे।"

"ना ! साड़ी तो लूँगा ही ! नकबेसर भी लेने के लिए सोच रहा था।"

"क्या जरूरत है ?"---- लेकिन---उसका मन गद्गद हो उठा। इसी नकबेसर के लिए उसकी बड़ी जेठानी ने अपने पति से कितनी गालियाँ सुनी थीं ! वो भी फगुआ में ! हाथा-पाई भी हुई। गाँव-घर के लोग पूआ-पूरी खा रहे थे और------वो ? लात-गाली ! लेकिन हद है भई ! नकबेसर चाहिए तो चाहिए ही ! जिद न छोड़ी ! मन-ही-मन सोचकर वह खुश होने लगी---"मैं जब उनके सामने नकबेसर पहन कर जाऊँगी, तब वह जलभूनेंगी ! कितना मजा आएगा ! और---और मैं तो सब को बताऊँगी कि मंगोलिया के बाबू ने बड़े शौक से मेरे लिए खरीदी है। तब ! तब तो और मजा-ही-मजा ! लात-गाली खाकर नकबेसर पहनीं लेकिन बेशरम की तरह कैसे सुनाती थीं !---नाक वाली को ही नकबेसर शोभती है !"

"लेकिन नकबेसर लेना ठीक रहेगा ?" अपनी आँखें और ललाट को सिकोड़ कर बुधना ने बुदबुदाते हुए अपने-आप से पूछा।

"काहे ? काहे न ठीक रहेगा ?" पति की उदारता को ध्यान में रखती हुई वह चौंक उठी। उसकी खुशियों पर पानी फिरने लगा।

"इसलिए ठीक न होगा कि भौजी का सोचेंगी ? इसी नकबेसर के कारण उनकी कितनी दुर्गति हुई थी और तू उसे पहनकर उनके सामने खड़ी हो जाएगी ?"

"तो हरज का है ? यह तो अपना-अपना भाग्य है कि किसे कैसा मरद मिलता है ! कोई औरत किसी को को न अपना भाग्य दे सकती है, न अपना भतार। फगुनिया बुरी तरह खीझ उठी।

"लेकिन नकबेसर तो दी जा सकती है न ?" बुधना ने यह बात मजाक में कही थी, लेकिन सुनते ही फगुनिया के तलवे की लहर सिर चढ़ गयी। चिढ़ कर बोली---"का ! घर में न जुटाए रोटी, और करने चले जगभोज ? लंगटा चला कपड़ा बाँटने !" सींकें पटकती हुई वह वहाँ से जाने लगी । बुधना खिलखिलाकर हँस पड़ा। हँसी रोक कर बोला---"अरे, मैं तो मजाक कर रहा था रे !" फगुनिया रुक कर उसे देखने लगी।

"मजाक ? काहे ?" मुँह फुलाती हुई पूछी।

"काहे कि तुम्हें गुस्सा करते कभी नहीं देखा न ? इसीलिए।" फगुनिया की आँखें शरम से झुक गयीं, जिसकी आभा उसके अधर पर तिर गयी। अचानक बुधना की हँसी एक आह में बदल गयी। फगुनिया को देखते हुए बोला----"मैंने देखा था रे ! पवनी (छठपर्व) में भौजी सितारे वाली साड़ी पहनकर तुम्हारे सामने कैसे चहक रही थीं ! और क्या बोल रही थीं ? यही न

कि चार सौ की साड़ी है ? और तू केवल मुसकराकर उन्हें देख रही थी। एक बार भी न बोली कि वैसी साड़ी मुझे भी चाहिए !"

"हाँ तो ?" वह गर्व से भर उठी किंतु अपने ऊपर चढ़े गुमान को छिपाती हुई उसने धीरे-से पूछा।

"तो--तो, तुम्हें पाकर मैं धन्य हो गया रे !"

बड़ाई एक ऐसा मंत्र है, जो दुश्मन को भी बिना अस्त्र-शस्त्र के पराजित कर दे, फगुनिया तो फिर भी उसकी पत्नी थी।

दस दिनों तक रात-दिन दोनों ने मिलकर दर्जन-भर टोकरी, सूप, पंखा, डगरा आदि बना लिये। तरह-तरह के रंगों और गोटों की सजावट के कारण ये काफी आकर्षक दिख रहे थे। अब शहर जा कर इन्हें बेचना शेष था। कमाई के लिए अपने पति को जाते देख फगुनिया को संतोष था, किंतु सोच-सोचकर चिंतित हो रही थी कि शहर में वह रहेगा कहाँ और खाएगा क्या। पास में रुपये भी थोड़े थे। उसके मन की बात बुधना को समझते देर न लगी। उसे सांत्वना देते हुए बुधना बोला---"पैर जब-तक आगे न बढ़ेंगे, तब-तक मंजिल कैसे मिलेगी रे ? पगली ! तू चिंता न कर। हाथ में रुपये न हुए तो क्या हुआ ? हुनर तो है न ? एक सामान बिका नहीं, कि दो वक्त की रोटी का इंतजाम हो गया ! दो क्या ! तीन वक्त का समझो।"

"ठीक है, लेकिन---पास में जो रुपये हैं, रख लें। खाली हाथ तो लोग मंदिर और तीर्थ स्थान भी नहीं जाते हैं।"

घर से दूर, कमाई के लिए वह पहली बार जा रहा था, इसलिए घबराहट तो उसे भी थी, लेकिन इसे छिपाते हुए उसने बड़े जोश से कहा---"तू नहीं समझेगी रे ! रुपये लेकर लोग मंदिर जाते हैं---धर्म कमाने---धर्मात्मा बनकर। और मैं ? कलाकारी लेकर जा रहा हूँ---अर्थ कमाने---कलाकार बनकर।

इसलिए मेरी चिंता तू न कर । ये रुपये पास में रख, काम आएँगे । हाँ, मंगोलिया पर जरा ध्यान रखना । रोज तरकारी लेकर हाट जाएगा । ऐसा न कि हाट के बहाने आवारा लौंडों के साथ कंचा और गुल्ली- डंडा खेलने में लग जाये ।"

इस तरह फगुनिया को समझा-बुझाकर उसने अपने सामान उठाये और भाड़े-भर के लिए रुपये लेकर शहर जाने के लिए चल पड़ा । दोनों कंधे और सिर पर इतने सामान के साथ जाते देख गाँव के लोग उसे आश्चर्य से देखने लगे । "इ का हई हो ?" (यह सब क्या है) किसी ने आश्चर्य से पूछा भी, लेकिन बुधना चुपचाप आगे बढ़ गया । खेत पार कर तालाब के पास वह पहुँचा ही था कि बलेसर ने हुलस कर पूछा-- "हो भइया ! इ साजन-बाजन के साथ कहाँ की तैयारी हई हो ?"

"बस हो गया ! बन गया जतरा ! साले ! अपने घर में तो देखा नही जाता ! चार जन हैं और चारों चार रास्ते पर ! एक ईर घाट, एक पीर घाट ! एक जोहे छोरी के बाट, और लूट एक बढ़ावे ठाठ !" बुधना बड़बड़ाते हुए तेजी से लपकता चला जा रहा था । पीछे से आवाज आती रही, वह भन्नाते हुए बढ़ता रहा ।

बस पर उसके सामान लदवाये गये । अपने सामान की देख-रेख के लिए वह बस के ऊपर चढ़ने ही वाला था कि कंडक्टर ने उसे ऊपर चढ़ने से रोकते हुए झड़पा---"ऊपर कहाँ रे ? एक तो दुनिया-भर का सामान लादकर लाया, ऊपर से खुद भी लदाने जा रहा है ! इ बस है, कोई ठेला गाड़ी नहीं ।" सहमते हुए बुधना नीचे उतर आया । बस के अंदर बैठ तो गया, किंतु उसका ध्यान अपने सामान पर लगा रहा । कंडक्टर ने बड़े उपेक्षित तरीके से पूछा---"कहाँ जाना है ?"

"हाट पर ।"

"हाट पर ? कैन-सा हाट ?"

वह चुप हो गया। उसे खुद पता नहीं था कि शहर में हाट कहाँ-कहाँ लगते हैं। बुधना उसका चेहरा देखने लगा। उसे डर था कि कहीं वह फिर से न झड़प उठे, इसलिए निरीह आँखों से उसे देखते हुए बोला---"सामान बेचना है भइया ! इसलिए रास्ते में कोई भी हाट आये, तो वहीं उतार दें।" उसकी सरलता पर कंडक्टर को दया आ गयी। सद्भाव दिखाते हुए बोला--- "पहली बार यहाँ आये हैं क्या ?"

"जी ! अपने हाथों सामान बनाकर शहर में बेचने के लिए।"

"अच्छा-अच्छा ! निश्चिंत होकर बैठें, हाट आते ही बता दूँगा।"

उसका बोलना बुधना को थोड़ा सहज बना गया। बस में बैठकर वह बाहर का दृश्य देखने लगा। बस चलने के कारण तेज हवा लगने से उसकी थकान को राहत मिली। बस बढ़ती गयी और उसे एक नयी सभ्यता देखने को मिली। कहाँ उसके गाँव की कच्ची सड़कें, वो भी बरसात में कीचड़ सनी और कहाँ, यहाँ की पक्की सड़कें ! उसने सोचा---"जिस जमीन पर हमलोग सोते हैं, वह भी कच्ची, और यहाँ देखो ! चलने के लिए इतनी सुंदर सड़क ! वाह !" बड़े-बड़े अट्टालिकाओं को देख उसकी नजरें चकाचौंध हो गयीं --"यहाँ तो स्वर्ग है---निश्चय ही यहाँ कलयुग के देवता रहते होंगे !" अदालत के शीर्ष पर राष्ट्रीय ध्वज फहराते देख एक आह भरते हुए उसने सोचा---"देश का झंडा तो हमलोग भी फहराते हैं क्योंकि हमलोग भी आजाद देश के हैं न ! लेकिन---- गाँव-शहर के बीच इतना अंतर !"

तुरत उसकी तंद्रा टूटी और मन-ही-मन बोला---"भई अच्छी बात है ! आजादी का लाभ किसी को तो हुआ ! अपनी-अपनी किस्मत होती है ! हमें क्या ! अपना काम करो और चलते बनो !" अचानक उसका मन खिल उठा---"यानी कि मेरे सामान का उचित दाम मिलेगा ! हाँ ! यहाँ तो पैसे वाले रहते

हैं। सौ-पचास इन लोग के लिए क्या है ! इतने के तो उनके बच्चे बिस्कुट-लमचूस (लेमन जूस) खा जाते होंगे ! हमलोग के जैसा ?----कि दो समय खाने के लिए चालीस रुपये भी बहुत लगे ?"

कुछ देर बाद बस रुकी। कुछ अन्य लोग के साथ बुधना भी उतरा। उसके सामान उतारे गये। नजर घुमाकर वह चारों और देखने लगा---"हाट तो आस-पास है ही नहीं !" उसे हतप्रभ देखकर कंडक्टर बोला---"यहाँ से दस-बारह मीटर का रास्ता है। उत्तर की ओर जाएँ, हाट दिखेगा।" बुधना ने हाथ जोड़कर उसका धन्यवाद यापन किया और बताये हुए रास्ते पर बढ़ चला। कुछ दूर आगे तक सवारियाँ आती-जाती दिखीं। आगे, उत्तर दिशा की ओर मुड़ते ही परती जमीन पर उसने चहल-पहल देखी। बुधना रुक गया। यहाँ हाट लगा था जहाँ बिक्रेता लोग अपने-अपने सामानों को सजा-सजाकर रख रहे थे। बुधना ने देखा--सभी जगह तो भरे पड़े हैं ! तभी एक खाली जगह पर उसकी नजर पड़ी और वह वहाँ जाकर रस्सियों से बँधे अपने सामान को खोलने लगा। आस-पास के दुकानदार अपने काम में व्यस्त थे, किंतु कभी-कभी एक तिरछी नजर बुधना पर डालकर एक-दूसरे को देखते हुए कुटिल मुसकान छोड़ देते। उसने अपने सामान ठीक से खोले भी नहीं थे कि एक ठेला गाड़ी आकर वहाँ पर रुकी। उस पर बिक्री हेतु खिलौने थे।

"कौन है रे तू ?" ठेले के पीछे खड़े एक व्यक्ति ने पूछा। बुधना उसे देखने लगा। उसके सामने वह अपने-आप को असहज महसूस कर रहा था।

"अरे बोल न, कौन है तू ? यहाँ कैसे बैठ रहा है ? इस जगह के लिए मैंने भाड़ा भरा है और तू----? चल हट ! साला आते-आते मुड बिगाड़ दिया !" बिना कुछ बोले ही बुधना अपना सामान समेटने लगा और फिर वहाँ से आगे बढ़ गया। हर जगह दुकान लगी थी। कोई जगह खाली न था। अंततः अंतिम दुकान के बगल में वह बैठ गया और सामान बिक्री के लिए अपने

सामान को सजा-सजाकर रखने लगा। वहाँ से कुछ हटकर भिखारियों का जमाव था। उसके सामने ही चाट-पकौड़े की कई दुकानें थीं। आइसक्रीम-कुलफी और शरवत-फालूदा भी मिल रहे थे। चाय की दुकानों से सोंधी-सोंधी खुशबू आ रही थी। सुबह ही वह घर से निकला था I सामने खाद्य-पेय पदार्थों को देखकर उसकी भूख और भी बढ़ गयी। अपने-आप को समझाने लगा---"बस चार-पाँच घंटे की ही तो बात है ! अच्छी बिक्री हो जाए---फिर आराम से कुछ पकौड़े खा लूँगा। चाय या आइसक्रीम भी ले लूँगा ! लेकिन---केवल आज-भर ! जीभचलाकी ठीक नहीं ! कमाई करके मस्ती करने तो नहीं आया हूँ न ! काम करने के लिए बस पेट भरना चाहिए।"

दोपहर से इंतजार करते-करते रात होने को आयी, किंतु एक भी ग्राहक उसे न मिला। दो दिन और बीत गये,---मगर यही बात ! हाँ कुछ लोग की नजर सामान पर पड़ी भी तो अपने हाथ में उन्हें लेकर उनकी कलाकारी को खूब सराहने लगते। बुधना उन्हें आशा भरी नजरों से देखने लगता, किंतु तुरत ही वह निराश हो जाता, जब सामान रखकर वे वापस चले जाते। उससे कुछ दूरी पर बैठा एक भिखारी दो दिनों से उसे और उसके सामानों के पास आते-जाते लोग को देख रहा था। बुधना की दीनता देखकर उससे रहा न गया। तीसरे दिन वह बोला----"का बाबू ! गाँव से आये हैं का ?"

"हाँ।" एक नजर उसे देखकर, अपने सामान को झाड़न से झाड़ते हुए बड़े उपेक्षित ढंग से वह बोला।

"विज्ञान का जमाना है बाबू, विज्ञान का ! हाथ का महत्त्व अब कहाँ ! अब तो सब विज्ञान का चमत्कार देखते हैं, उसी पर अपनी जिंदगी ढाल रहे हैं---हाथ की कलाकारी देखने वाला अब भला कौन है !"

सहसा बुधना की आँखें उस पर टिक गयीं।

"हाँ बाबू, सच कहता हूँ।" बुझी हुई हँसी हँसते हुए उसने कहा। बुधना उसकी बातों का मंथन करने लगा और वह भिखारी अपनी बातें कह कर जमीन की ओर देखते हुए कुछ सोचने लगा। पल-भर बाद ही वह बोला---"मैं भी एक कशीदाकार था ! सस्ती-से-सस्ती कुर्ती, साड़ी, चादर के साथ-साथ और भी कपड़ों पर अपनी कलाकारी भरकर कीमती बना देता था। लोग मुझे कलाकार कहते थे। लेकिन अब ! कलाकार के हाथों कटोरा आ गया। कारण ? मेरे काम में जितना समय लगता था, उससे बहुत- ही कम समय में वही काम मशीनें करने लगीं। एक कपड़े पर आँखें गड़ाये रखो----! और मशीन !---पलक झपकते काम पूरा ! वो भी सस्ते में !"

"फिर ?" आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखते हुए, बुझे मन से बुधना ने पूछा।

"फिर का !" अपने आगे रखे कटोरे को हाथ में लेकर हिलाते हुए बोला---"दे दे राम, दिलादे राम ! देने वाले श्री भगवान !"

"यह क्या बात हुई भाई !" उपेक्षित ढंग से बुधना बोला---"मेहनत-मजदूरी तो कर सकते थे ? कहाँ लिखा है कि कलाकारी दिखाने वाले हाथ को मेहनत-मजदूरी करना मना है ? तुम्हारी कला की कदर कोई करे या न करे, तुम तो अपने हाथों की कदर करते ?"

"बड़ी-बड़ी बातें कर रहे हो बाबू ! लेकिन जब समस्या बहुत बड़ी हो न, तब इस तरह की बातें छोटी हो जाती हैं। इसलिए जहाँ से आएँ हैं, वहीं चले जाएँ----खेती-बारी में लगें----अपनी जमीन नहीं भी है न, तब भी कम-से-कम भूखे न रहेंगे। और यहाँ ? जमीन तो मिलेगी नहीं, जमीर भी घायल हो जाएगा।"

कुछ देर तक बुधना उसकी बातों पर गौर करता रहा।

"क्या ? गलत कह रहा हूँ ? महीना-भर यहाँ रहकर देख लें। मेरी बातें गलत निकलीं तो दस लात लगाकर वापस चले जाइएगा !"

उसकी बातों को न वह आत्मसात् कर पा रहा था, नाहीं नजरंदाज।

दुबिधा में वह डोल रहा था, किंतु बिना कमाई किये वह जाना नहीं चाहता था। धीरे-से वह बोला----"यहाँ बसने नहीं आया हूँ भाई ! बस, सामान बेचकर वापस अपने गाँव चला जाऊँगा।"

"हाँ, लेकिन बिकेंगे तब न ? ये--ये पंखें ! कौन लेंगे ? यहाँ घर-घर कूलर-ए.सी. हैं। टेबल- सीलिंग फैन भी पीछे छूट गये। ये सूप ? पहले की गृहलक्ष्मी के हाथों की शोभा थे, जो घर में रहकर लक्ष्मी संजोगती थीं---अब की नहीं। आज की गृहलक्ष्मी अपने हुनर और अपनी योग्यता के बदौलत घर से बाहर जाकर लक्ष्मी बटोरती हैं। समझें ? और--और यह टोकरी ! फ्रीज का जमाना है, फ्रीज का !"

उसकी बातों को बड़े ध्यान से बुधना सुनता रहा। कुछ पल चुप रहने के बाद वह भिखारी बोला---"खैर ! आपके हुनर की कदर कोई करे या न करे, मैं तो करता हूँ। सच में, कलाकारी के बहुत सुंदर नमूने हैं !" अपने कटोरे में पड़े सिक्कों को गिनकर बुधना की ओर बढ़ाते हुए वह बोला---"एक पंखा मैं खरीदता हूँ भाई। मोल-मोलाई न करूँगा---बस दे दें।" बुधना के होंठों पर एक व्यथित मुसकान छा गयी। पैसे लिए बिना ही उसे एक पंखा थमाते हुए बोला----"मुझे इसका दाम मिल गया भाई, तू इसे रख ले।"

अगले दिन वह वहाँ नजर नहीं आया। यथार्थ की चोट से वह जाग चुका था और उसके सपने टूट गये थे। आकाश की ओर देखा---सूर्य के प्रकाश से आकाश नीलाभ दिख रहा था, किंतु उसे तारे भी नजर आ रहे थे। मन-ही-मन वह स्वयं से कहने लगा---"रोजी-रोटी की बात छोड़ो---- गाँव में कभी भूखा तो नहीं रहा न ? लेकिन---- बिन साड़ी और नकबेसर लिये जाऊँगा तो

फगुनिया का सामना कैसे करूँगा ? बिचारी, नकबेसर के लिए आस लगायी होगी ! कितना बुरा लगेगा ! हर वक्त भौजी उसे नीचा दिखाती रहीं, मगर वह सुनकर भी अनसुनी करती रही---देख कर भी अनदेखी रही । भौजी की दबंगी दबाने का आज मौका भी मिला---तो भाग्य साथ न दिया । न-न--भाग्य को क्यों कोसें ? समय ही बदल गया। समय के साथ लोग बदल गये---या फिर लोग के साथ समय बदल गया। हम न बदले, तो दुर्भाग्य हमारा ही है न ! फटे-पुराने कपड़े में लिपटकर पुश्तैनी विचार को ढोते-ढोते वहीं-के-वहीं रह गये। तब भला हमारी क्या पूछ ! लेकिन---वापस तो जाना ही है। साथ में चबेना-सत्तू लाया था--वे भी खतम । अब केवल वापस जाने का भाड़ा है। वह भी खा लूँगा तो वापस जाऊँगा कैसे !" निराश होकर बुधना ने अपने सामानों को कंधे पर लादे और बस स्टैंड की ओर चल पड़ा । अभी कुछ दूर ही गया था कि उसके आगे-आगे चलने वाले एक युवक को, उसी की ओर आती हुई एक गाड़ी से धक्का लगा। गाड़ी लेकर ड्राइवर भाग गया और वहाँ पर भीड़ जम गयी। बुधना भी उधर दौड़ा और अपना सामान वहीं पटक कर चीखने लगा---"ओ बाबू ! इसे अस्पताल ले जाएँ ---जल्दी करें---नहीं तो यह मर जाएगा !" मगर--- यह देखकर उसे घोर आश्चर्य हुआ कि सभी लोग दूर खड़े उस घायल युवक को छटपटाते देख वीडिओ बनाते रहे। पल-भर तो आँखें फाड़-फाड़कर लोग की निर्ममता वह देखता रहा, फिर अचानक चिल्लाने लगा---"भाई यह क्या कर रहे हैं ! अरे इसकी मदद करें ! यह भी आप लोग की तरह ही किसी का बेटा होगा---भाई--पति--पिता होगा----!" लेकिन भीड़ यथावत् खड़ी रही । हाँ, एक-दो सज्जनों के फोन करने पर पुलिस आयी । पुलिस को देखते ही बुधना ने राहत की साँस ली और कपसते हुए बोला---"साहब जी ! इसे गाड़ी से धक्का लगा है---अभी कुछ देर पहले ही---बिलकुल मेरे सामने ही !"

उस घायल युवक को पुलिस अपनी गाड़ी में ले गयी। बुधना अभी भी वहीं बैठा था और हाथ जोड़कर आकाश की ओर देख रहा था। धीरे-धीरे भीड़ छटने लगी। तभी किसी ने कहा---"भाई, चुपचाप भागो अपने रास्ते ! खैर मनाओ कि गँवार-दीन जानकर पुलिस ने तुम्हें कानूनी पचड़े से अलग रखा ! अब जल्दी निकल लो।" बुधना की तंद्रा टूटी। अपने सामान उठाये और धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा, मगर उसका मन वहीं ठहर-सा गया था। सोचने लगा--यहाँ तो सब बड़े लोग दिखते हैं----मगर सोच इतनी छोटी ! भई पढ़े-लिखे दिखते हैं ! दिमाग में विद्या-ज्ञान और दिल इतना खाली ! बोल-चाल, रहन-सहन और पहनावा-ओढ़ावा में आगे और---और सोच में इतना स्वारथ (स्वार्थ) ! इतना मैल ! इससे अच्छे तो हम अनपढ़-गँवार और गरीब लोग हैं। एक के घर में कोई मरा नहीं कि गाँव-भर में चूल्हा बुतान ! किसी के आँगन से हँसने की आवाज आयी तो--भले ही लोग जल उठेंगे, लेकिन रोने की आवाज सुनकर सभी उस ओर दौड़ पड़ेंगे। हम पढ़े-लिखे नहीं---बुद्धिहीन ही सही, लेकिन हमारे अंदर हृदय तो है ! हृदय में दया तो है ! आज मुझे अपने-आप पर बड़ा गर्व हो रहा है कि मैं देहाती भूच हूँ।"

तुरत ही उसका ध्यान उस घायल युवक की ओर चला गया और दुखी होकर सोचने लगा---"क्या होगा उसका ? वह ठीक तो हो जाएगा न ?----मन में कई प्रश्न आने लगे। उसका मन न माना। उसने सोचा---"एक दिन रुककर उसे देख लूँ, तो ठीक रहेगा। बिन देखे उसे चला जाऊँगा तो मन में बेचैनी रहेगी।" जैसे-तैसे रात बिताकर, अगले दिन वह अस्पताल पहुँचा। देखा---उस युवक का परिवार उसके साथ है। उस युवक के पिता ने जब बुधना को देखा तो उनकी आँखें फटी-की- फटी रह गयीं। उन्होंने पूछा---"तुम वही हो न जो पंखे--वगैरह बेच रहे थे ?" सहसा बुधना की नजरें उनपर टिक गयीं। उन्हें देखते हुए विनीत होकर बोला---"जी साहब।"

"मेरे घायल बेटे के पास बैठकर इसके लिए सहायता की माँग करने वाले तुम्हीं थे न ? सुनने में आया कि इसे ढाढस भी दे रहे थे ?"

"जी साहब ! लेकिन यह कैन-सी बड़ी बात है ! और---और ढाढस दे नहीं रहा था साहब, दिल से अपने-आप ढाढस के लिए शब्द निकल रहे थे ।" तुरत ही उसके चेहरे पर घबड़ाहट छा गयी। उस घायल युवक को देखते हुए बोला--"जल्द ठीक हो जाएँगे न ?"

अपलक बुधना को निहारते हुए उन्होंने सिर हिलाकर 'हाँ' कहा।

"हाँ ! भगवान करे, आपका घर भरा-पूरा रहे !" आशीर्वाद देते हुए वह वहाँ से चला गया।

उनकी आँखें भर आयीं । उन्हें वह हाट याद आया----बुधना और उसके सामान ! उन्होंने उसके द्वारा बनाये गये सींकों के पंखे और टोकरे के दाम लगाये थे। टोकरे का दाम सुनकर ही इसे लेने से इंकार कर गये थे। उन्होंने पंखे का दाम तीस रुपये लगाये थे जबकि बुधना पचास रुपये से उतर कर पैंतीस रुपये में उन्हें देने को तैयार था। कितनी विनती की थी---"ले लें साहव ! एक समय का भोजन का दाम निकल जाएगा !" मगर---उन्होंने कितनी निर्दयता से कहा था---"दया जगाकर व्यपार नहीं किया जाता ! समझे ?" और----वे आगे बढ़ गये थे । आज उसी दीन ने उन पर दया का बोझ लादकर उन्हें झुका दिया था । उनकी तंद्रा टूटी । उन्होंने इधर-उधर देखा, अस्पताल के फाटक तक भागे---मगर बुधना कहीं न दिखा।

शाम को बुधना फिर आया। उसके हाथ में एक पंखा और एक टोकरा थे। बेटे के लिए दुखी उस सज्जन ने जब बुधना को देखा तो उनके मुरझाये चेहरे पर संतोष झलक उठा । उनके बेटे को देखकर, उन्हें धैर्य बँधाते हुए बुधना बोला---"एकदम ठीक हो जाएँगे बबुआ ! आप चिंता न करें !" वे सज्जन उसे टकटकी लगाये देखते रहे। बुधना को कुछ कहें---इसके लिए उन्हें कोई

शब्द न मिल रहा था। ग्लानि के खारे सागर में उबडुब कर रहे वे---अब बुधना के हृदय की शीतल सरित् में डुबकी लगाना चाह रहे थे---मगर रास्ता न मिल रहा था। पंखा और टोकरा उनकी ओर बढ़ाते हुए, बड़ी विनम्रता के साथ वह बोला---"साहब जी ! यह पंखा और टोकरा आपके बेटे के लिए हैं। आपको भी पसंद आये थे न ? वापस अपने गाँव जा रहा हूँ----इसलिए एक बार और देखने चला आया। और----मैं तो ठहरा गरीब ! आप लोग को भला क्या भेंट दे सकता हूँ ! लेकिन---कला का धनी हूँ ! इसलिए अपने बेटे की लिए इस कलाकारी को आशीर्वाद स्वरूप रख लें।" सज्जन का गला भर आया। अपने पॉकेट से सौ रुपये निकालकर देते हुए बोले--- "माफ करना भाई ! मैं------!"

"न-न साहब जी !"----अपने कानों पर हाथ रखकर बात काटते हुए बुधना बोला---"हम कलाकार लोग हैं। न दया दिखाकर हम व्यपार करते हैं, न किसी को मजबूर करके। यह अलग बात है कि हमारी स्थिति में दीनता और मजबूरी दिख जाती है----मगर इसमें देखने वालों की नजरों में दोष है, हमारे में नहीं। वैसे भी, अब व्यपार न करूँगा। गाँव में अपना काम जिंदावाद ! बस यही समझें---"कला जीवित है, लेकिन----कलाकार मर गया !" बुधना ने अपनी बातें स्पष्ट रूप से कही थीं, किंतु उनके लिए ये व्यंग्यवाणी थीं जो उनके हृदय में चुभ गयीं और वे बुरी तरह से आहत हो गये। मस्तिष्क में बिजली क्रौंध गयी-- "क्या ? कलाकार मर गया ? किसने मारा ? विकास के पथ पर अग्रसर हम प्रगतिशील लोग ने ? नहीं--नहीं ! कलाकार नहीं मर सकता। यह--यह कैसे हो सकता है ? एक अच्छा इंसान भी तो कलाकार है ! और---और उसकी इंसानियत ही तो उसकी कला है। यदि सच में कलाकार मर गया--तो दुनिया में हाहाकार मच जाएगा I"

"सुनो भाई-----!" बुधना वहाँ से चल पड़ा था, लेकिन उन सज्जन की पुकार सुनकर वह रुक गया। उनके हृदय की गति तेज हो गयी। दफ्तर में बड़े-बड़े

अधिकारियों को भी बेधड़क कभी भी, कुछ भी कह दिया करते, मगर आज ! समाज में दीन-हीन और गँवार समझे जाने वाले बुधना के आगे उनकी बोली लड़खड़ा रही थी। सज्जन ने बड़े संकोच से रुपयों की एक गड्डी निकालते हुए कहा---"भाई तू तो संतुष्ट होकर जा रहा है, लेकिन हमें असंतुष्ट करके न जाओ !" बुधना कभी उन्हें देखता, कभी उनके हाथ में रखे नोटों को। आश्चर्य के साथ वह बोला---"यह क्या है साहब जी ?"

"कुछ नहीं भाई ! यह न तुम्हारी सद्भावना का दाम है, न तुम्हारी कला का। बस---- पुरस्कार के रूप में दे रहा हूँ भाई !"

"क्यों ? आप सरकार हैं ?"

आस-पास खड़े लोग को हँसी आ गयी। एक दूसरे व्यक्ति ने अपनी हँसी रोकते हुए कहा---"भाई ! केवल सरकार ही पुरस्कार नहीं देती, आम लोग भी देते हैं। और---पुरस्कार मिलना भाग्य की बात है, इसलिए ले लो।" उनका मन मजबूत हुआ। विनीत हो वे बोले---"भाई मुझे ऋण मुक्त करो !"

"कैसा ऋण साहब ?"

"मेरी कठोरता को तुमने तरल बना दिया। इंसानियत के थपेड़ों से मेरे अंदर सोयी हुई सज्जनता को जगा दी। बस---पथ प्रदर्शक गुरु के लिए यह दक्षिणा है।" बुधना कुछ न समझ पा रहा था। हतप्रभ हो वह उन्हें देखता रहा। मन-ही-मन सोच रहा था---"जीतुआ कह रहा था कि शहर जा रहे हो---यह तो ठीक है, लेकिन सावधान रहना ! खेत-चौर में रहने वाले साँप- बिच्छू भी वहाँ जाने से डरे रहते हैं इसलिए ये सब जीव-जंतु वहाँ से भागे रहते हैं, तू तो फिर भी आदमी है ----सही नहीं कहा। सब समय का फेर है।"

उस सज्जन ने उसे नोट की गद्दी थमायी और बुधना बिना कुछ बोले, उनकी कही बातों पर विचार करते हुए जाने लगा। कुछ आगे बढ़ा ही था कि उनकी

आवाज सुनकर वह ठिठक कर वहीं खड़ा हो गया और पीछे मुड़कर देखने लगा। वे तेज आवाज में बोल रहे थे----"भाई ! फिर कभी भी, किसी से न कहना कि कलाकार मर गया ! और--सुनता जा--तू सच्चा कलाकार है---।"

बुधना के होंठों पर मुसकान छा गयी और---उसकी आँखें भर आयीं।

कवि की पत्नी

घर पहुँचते ही विनोद दास बरामदे में लगी आरामदायक कुर्सी पर बैठ गये और आँखें बंदकर मुदित भाव से विचार करने लगे--"आज तो कमाल हो गया ! सोचा भी नहीं था कि मेरी कविता सभी को इतनी पसंद आएगी ! वाह ! तालियों की गड़गड़ाहट अभी भी मेरे कानों में गूँज रही है। सभी ने सराही। सराहते भी क्यों नहीं ! पूरी तन्मयता से मैंने कविता लिखी थी।" तुरत ही उन्होंने आँखें खोल लीं और अफसोस करते हुए मन-ही-मन कहने लगे--"बिचारी गीता ! कितनी याचना भरी हुई थी उसके शब्दों में--बाजार से जरा चीनी ला दें, बिट्टू हलवा के लिए कह रहा है--मगर मैं नहीं गया।" पलभर में सोच फिर बदल गयी --"कैसे जाता ? भई कविता लिखने में तल्लीन था ! वह क्या जाने कविता का मर्म ! खैर ! अब लाकर दे दूँगा।"

विनोद दास कमरे में प्रवेश करते ही आह्लादित हो अपनी पत्नी को आवाज देने लगे----"गीता-----!" गीता उनके सामने आकर खड़ी हो गयी। पति को खुश देखकर मुसकराती हुई वह पूछी---"क्या बात है ? आज कोई नयी उपाधि मिली है क्या ?"

"अरे मत पूछो ! तुम्हें गर्व होना चाहिए कि तुम्हारा पति इतनी अच्छी कविता लिख लेता है ! वह एक नामी-गिरामी कवि है और तुम उसकी पत्नी !"

"गर्व होना चाहिए ?" व्यंग से गीता ने पूछा।

"हाँ बिलकुल !" विनोद दास के चेहरे पर दर्प चमक रहा था।

"आप पर ?"

निरर्थक प्रश्न से वे खीझ उठे--"नहीं तो क्या पड़ोसी पर ? तुम्हारे लिए यह गर्व की बात नहीं है ?"

"लेकिन आज तो मैं लज्जित थी।"

'क्यों ?' घोर आश्चर्य के कारण उनकी आँखें गोल-गोल हो गयी थीं।

"क्योंकि चीनी लाने सुबह मैं जब बाजार गयी तब साहू को अच्छा न लगा इसलिए उसने कहा--"भाभी जी ! आप क्यों यहाँ आयी हैं ? भइया जी को कहतीं !" मैंने बड़े गर्व से कहा--"वो कविता लिखने में रमे हैं; तब पता है क्या हुआ ?" विनोद दास चुप थे मगर उनकी आँखों में प्रश्न था। बड़े इतमीनान से गीता बोली-- "वहाँ जिन्होंने भी मेरी बात सुनी, सभी हँस पड़े !"

"अरे छोड़ो उन्हें ! बंदर क्या जाने अदरख का स्वाद !" विकृत मुँह बनाकर बड़े ही उपेक्षित तरीके से वे बोले--"बँधे दिनचर्या में जीने वालों के पास इतना समय कहाँ है कि वे कला को समझे ! वैसे भी, कला के मर्म को समझने वाला स्वयं भी कलाकार होता है, सामन तौलने वाला साहू क्या जाने !" मन-ही-मन कुढ़कर गीता उनकी बातों को सुनती रही। विनोद दास कुछ देर तक सड़ा-सा मुँह बनाकर बुदबुदाते रहे फिर कुछ उत्सुक होकर गीता से बोले-----"सुनोगी नहीं मेरी कविता ?"

विजय प्राप्ति के लिए प्रस्थान करने वाले योद्धा के मस्तक पर तिलक लगाने की परंपरा है। गीता ने उस समय तिलक न लगाया, लेकिन विजयी पति के भाल पर तिलक कैसे न लगाती ! बेमन से ही सही, मगर मुसकराकर धीरे से बोली--'सुनाएँ !' प्रशंसा तो वाहवाही की अनुचरी है और वाहवाही व्यक्ति की सबसे बड़ी भूख। पत्नी की अनुमति मिली नहीं कि विनोद दास का आलाप आरंभ हो गया--

"जय जय जय हे पुण्य भूमि ! आँचल में नित खिलते फूल,

भाल स्पर्श कर चंदन बनते, जन्मभूमि की धूल !

फूलों संग हम हँसते निश-दिन, काँटे हमें जगाते हैं,

खुले नयनों में सुंदर स्वप्न, सत्य पथ हमें दिखाते हैं !"

"वाह ! बहुत अच्छा ! जन्म भूमि ही पुण्य भूमि है इसलिए इसकी स्तुति सिरोधार्य ! मगर एक बात समझ न आयी कि शेष पंक्तियाँ किनके लिए हैं।"

"मतलब ? इतना भी समझ नहीं पा रही हो ? अरे हम देश वासियों के लिए हैं, और किसके लिए ?"

"लेकिन हमने तो किसी को फूलों के साथ नित हँसते कभी नहीं देखा ! आभाव में ही वे जीने के आदी हो गये हैं। जिन काँटों के बीच उलझकर वे रोते हैं, चुभन के आदी होकर कालांतर काँटों के बीच ही वे हँसने लगते हैं। और क्या कहा ? काँटें हमें जगाते हैं ? भई हमें तो जगाते हैं हमारा कर्तव्य बोध, काँटें नहीं। और-तो-और, दूसरों की बात मैं नहीं जानती, मैं तो सत्य पथ पर चल ही रही हूँ भई ! यह आप भी जानते हैं। मगर--- खुले आँखों से मुझे सुंदर स्वप्न नहीं दिखते। मैं तो देखती हूँ-----!"

"क्या ? वो भी बता दो।" विनोद दास खीझ उठे I

एक आह भरते हुए उसने कहा--"कुछ नहीं !"

पत्नी की बात सुनकर विनोद दास की भृकुटी तन गयी। कुछ पल गीता को घूरते रहे, फिर--- बड़े अफसोस के साथ बोले--"ठीक ही कहा गया है-- भैंस के आगे बीन बजाओ, भैंस बैठी पगुराए ! धत् ! मैं भी किसे कविता सुना रहा था !" खीझकर पुनः बरामदे में रखी कुर्सी पर बैठकर भन्नाने लगे--"सारा मूड खराब हो गया ! सच ही कहा गया है कि या तो अनपढ़ के साथ शादी करो कि जैसा कहो, वह सुने; नहीं तो ढंग से पढ़ी-लिखी के साथ, ताकि वह

कंधा-से-कंधा मिलाकर साथ चले। यह अधकचरी पढ़ाई ! न इधर की, न उधर की ! बीच भँवर में फँस गये लाला, अब बस प्रभु बचाने वाला !"

"चाय पी लें।" बड़ी शालीनता से चाय का प्याला थमाते हुए गीता ने कहा। विनोद दास की तंद्रा टूटी। हाथ में चाय का प्याला लेते हुए उपेक्षित दृष्टि अपनी पत्नी पर डाली दी। एक घूँट पीते हुए उन्होंने कहा--"पता है ? कामिनी भट्टाचार्या भी आयी थी।"

"कविता पाठ के लिए ?"

"और नहीं तो क्या ! उसने भी मुक्त कंठ से मेरी कविता की सराहना की !" कुछ रोबीले स्वर में उन्होंने कहा।

"हाँ, सराहनी भी चाहिए ! कविता तो अच्छी है ही ! लेकिन---! एक बात समझ में नहीं आयी।"

"अब कौन-सी बात समझ में नहीं आयी ?"

यही कि उसकी सासु माँ की तबीयत इन दिनों ठीक नहीं है, और---बच्चे भी छोटे हैं ! फिर भी इन सभी को छोड़कर वह कवि गोष्ठी में वाहवाही लूट रही थी !" होंठों पर व्यंग्यात्मक मुसकान बिखेरती हुई वह बोली।

"तुम नहीं समझ पाओगी, यह वाहवाही लूटना नहीं, लक्ष्य प्राप्ति है।"

"ओ, अच्छा ! मेरी ओर से उसे लक्ष्य प्राप्ति के लिए शुभकामनाएँ दीजिएगा।" उसी कटु मुसकान के साथ बोलती हुई वह चली गयी। अपनी पत्नी की व्यंग्योक्ति वे खूब समझते थे। खीझकर मन-ही-मन बोले--"मुसकान तो देखो ! बाप रे ! शहद में डुबा-डुबाकर सूई चुभाती है। जान लेती भी है तो गुदगुदी लगाकर, हँसा-हँसाकर !"

सच तो यह था कि गीता की चुप्पी और मुसकराहट का सामना करने से वे कतराने लगे थे । कवि हृदय था, जागरूक तो थे ही । वे भी समझते थे कि जिम्मेवारी के सीमित कर्मक्षेत्र में जो उपज होती हैं, उनसे स्वादिष्ट कुछ भी नहीं और-----कहीं-न-कहीं वे अपनी जिम्मेवारियों पर अपनी निजी भावनाओं को लक्ष्य का नाम देकर उसे ढक रहे थे, किंतु जमीन नम थी---स्वतः स्फुटित फब्वारे को कौन ढँक सकता था ! बच्चों के साथ बातचीत कम-से-कम होती, पत्नी के साथ हँसने-बोलने का समय नहीं ! बातें होतीं भी, तो कविता और कविगोष्ठी की ! लेकिन गीता ने कभी कोई शिकायत न की ! मन के सूने बाग में जिम्मेवारियों के पौधें थे, जिन्हें सिंचती रहती ! घर में किस वस्तु की कमी है, बच्चे को कब क्या चाहिए, आए दिन परिवार में संपन्न विवाह, जन्मोत्सव या फिर अन्य कर्मकांड में कैसे- क्या करना है-----इन सभी की जिम्मेवारी गीता पर ही थी । हाँ, विनोद बाबू अपनी तनखाह उसे सौंप दिया करते ।

रात के भोजन के उपरांत, विनोद दास गहरी नींद में सो गये मगर गीता को नींद नहीं आयी । सोचने लगी--"निःसंदेह कविकर्म श्रेष्ठ धर्म है, लेकिन कब ? देश का गुणगान करके या फिर--देश की समस्याओं का बखान करके ? इसकी दुर्दशा के बखान पर, बजती तालियों की गड़गड़ाहट सुनना ही कवि धर्म है ? आहत हृदय की आह को तुकबंदियों के डोर में पिरोने से माला नहीं बनती ! बने भी क्यों ? किस काम की रहेगी ? दीन और दीनानाथ---दोनों में से किसी को भी यह समर्पित नहीं की जा सकती । सहानुभूति के फूल कभी सुगंधित नहीं होते । और फिर झूठा बखान ? भुलावा है । समस्याएँ तो बिन दिखाये ही दिखती हैं, इनका समाधान हो तब न ! जिन बिलखते लोग की तस्वीर ये अपनी कविताओं में उभारते हैं, उनके आँसू पोछने ये निकलते अगर, तो निश्चय ही मैं साथ देती । यह क्या ? उनके आँसू को स्याही बना दी और जीवन को पृष्ठ ! लिख दी उनकी दीनता पर मर्मस्पर्शी कविता ! दस

जनों के बीच सुनाकर लूट ली वाहवाही ! वाह ! क्या अच्छी कविता है ! एकदम जीवंत ! शब्द-शब्द से दीन की दीनता झड़ रही है ! वाह ! लेकिन इससे उपलब्धि क्या मिली ? दीनता वहीं सिसकती रही लेकिन स्वयं खुश होते रहे, वाहवाहियों के बीच ! यह कोई बात हुई ? लाश पर के कफन को पगड़ी बनाकर बाँध लेने से कोई सेठ नहीं हो जाता !" उसका मन रोष से भर उठा--"घर में बैठकर चार वाक्य लिखने के वजाए, अगर उन दीनों के साथ चार कदम चलते, तो क्या मैं इनके साथ न चलती ? मगर नहीं ! दीनता के जितने चिथड़े उड़े, उतनी वाहवाही ! यह क्या बात हुई ? दिखता क्या है ? कि कविता में रुदन जीवंत है ? अरे---! यहाँ तो जिंदगी रो रही है ! समाधान तो करो ! स्वयं न किया, चलो कोई बात नहीं ! लेकिन समाधान तो बताओ ! और-तो-और, आँचल में फूल खिले ! धूल में खुशबू चंदन की ! भँवरों के गुंजन में गीत ! हरियाली पर उषा उतरी ! वाह ! कितनी सुंदर कल्पना है ! इसमें कोई संदेह नहीं कि देश हमारा है और हम अपने देश के लिए हैं, किंतु देश के लिए हम कुछ करें, ना कि देश को मानवीयकरण अलंकार से अलंकृत कर सूखा-सूखा गुणगान करें। किसानों का वर्णन युग पुरुष के रूप में करते हैं, मगर सच्चाई क्या है ! आभावग्रस्त, दीनता में लिप्त, शोषित किसान ! उनकी दयनीय दशा को तुकबंदियों में पिरोने से केवल अपना स्वार्थ सिद्ध होता है। देखा--अनुभव किया--चंद पंक्तियाँ लिख डालीं --स्वयं दुखी हुए--और बाहर सुनाकर वाहवाही ! और-तो-और, वाहवाही सुनकर खुश भी हो गये ! अरे ! अगर दर्द है तो आवाज उठाओ, क्रांति लाओ ! कचड़े को हटाने के लिए जलधार चाहिए, रस की बूँदें नहीं।" गीता का मन क्षुब्ध हो उठा। घड़ी की ओर उसकी नजर गयी तो देखा रात के बारह बज रहे थे। एक आह भरते हुए उसने मन-ही-मन कहा---"खैर ! मुझे क्या करना या कहना ! मैं तो पहले ही घोषित हो चुकी हूँ कि मैं निःरस हूँ। नट नचाये

नाग और लोग चिल्लाये--- 'भाग' ! उनकी दृष्टि में तो यह उक्ति मेरे ऊपर ही चरितार्थ होती होगी। अब सोने की कोशिश करती हूँ, सुबह ही जागना है !"

सुबह-सुबह विनोद दास बाहर बरामदे में बैठे थे। प्रातःकालीन हवा में शीतलता थी। वातावरण शांत था। चिड़ियों की चहक शांत वातावरण को और भी मनोहारी बना रही थी। गीता भी वहीं आकर बैठ गयी। कल रात मन में आये उद्वेजित विचारों से अभी भी वह बोझिल थी किंतु सुखद सुबह की अनुभूति उसके अंदर ताजगी भरने लगी थी। दोनों चुप थे। अक्सर ऐसा होता। जिस घटना या दृश्य विशेष को गीता जीवंत देखती, विनोद दास उसमें रस ढूँढ़ते। फिर भी, चुप्पी में भी सामंजस्य होता क्योंकि गीता का सोचना था कि घर-गृहस्थी कोई युद्ध क्षेत्र नहीं, जहाँ विचारों के खड्ग चले या फिर दो विरोधी मानसिकता अपने-अपने गदे के साथ द्वंद युद्ध के लिए एक-दूसरे को ललकारे। गृहस्थी का आधार विश्वास, सद्भाव और प्रेम हैं, जिनकी कोई कमी यहाँ नहीं थी। यह अलग बात है कि विनोद दास अपनी पत्नी से यदा-कदा ही प्रेम भरी बातें करते, लेकिन उसके लिए प्रेम प्लावित कविताएँ अवश्य लिखते। उनके हृदय में पत्नी के प्रति अगाध प्रेम है, तभी तो ! गीता भी इस सच्चाई को जानती थी। प्रत्यक्ष नहीं भी, तो परोक्ष ही सही। बरामदे के नीचे हरे-हरे घास पर चिड़ियों को फुदकते हुए दोनों चुपचाप देख रहे थे। विनोद दास ने पूछा--"तुम सोच सकती हो कि ये चिड़ियाँ क्या कह रही होंगी ?"

"हाँ, निश्चित !"

"क्या ?"

"निःसंदेह ! स्व रचित कविताएँ सुना रही हैं।" कुछ पल दोनों एक-दूसरे को देखते रहे और फिर खिलखिला उठे। तुरत ही, एक दृश्य देखकर दोनों की खिलखिलाहट एकदम रुक गयी। साठ-पैंसठ साल का एक वृद्ध, एक हाथ में

बाँस-पंख आदि से बने खिलौनें ले जा रहा था और दूसरे हाथ से एक रस्सी पकड़े हुए था जो चार-पाँच साल की एक बच्ची के हाथ से बँधी थी। वृद्ध आगे-आगे चल रहा था और वह बच्ची उसके पीछे-पीछे आँखें मलती हुई जा रही थी। ऐसा लग रहा था कि उसे नींद से जबरन् जगा दिया गया हो।

"आ-हा-हा ! कितना मार्मिक दृश्य है ! मार्मिक नहीं, बीभत्स भी ! ऐसी जिंदगी बसर करने के लिए भी लोग बाद्ध हैं ! अफसोस जाहिर करते हुए विनोद दास ने उसे आवाज दी----"भाई, जरा इधर आना !"

वृद्ध की आँखें चमक उठीं कि शायद उसके खिलौने बिकेंगे। वह उनके सामने आकर खड़ा हो गया। विनोद दास उसे गौर से देखते हुए बोले--"तुम्हें मैंने कभी--- डॉक्टर अभय भाटिया के घर के आस-पास देखा है शायद ---!"

"देखा होगा बाबू ! उनके गैराज में ही रुका हूँ। बड़ी दया है उनके दिल में ! भटक रहा था, सो आश्रय दे दिया। भगवान उनको और उनके परिवार का भला करें !"

विनोद दास को ध्यान में आया---"हाँ-हाँ, वहीं मैंने इस बच्ची के साथ इसे देखा था। जमीन पर एक फटा-पुराना बिस्तर लगा था---उसी पर बैठकर यह गुड़-रोटी खा रही थी। पास ही एक पुराना थैला रखा था और कुछ बरतन भी रखे थे।"

गीता उस बच्ची को पीड़ित नजरों से देख रही थी। बच्ची की आँखें कभी वृद्ध पर टिकतीं, कभी गीता और विनोद दास पर। उसकी निरीह छोटी-छोटी आँखों में अपार उत्सुकता थी कि शायद यहाँ उसके खिलौनें बिकेंगे। स्वप्न विहीन आँखों में बालपन का कोई निशान न था। इस हृदय विदारक दृश्य को देख विनोद दास की आँखें कुछ सिकुर-सी गयी थीं। दुःख के साथ उन्होंने उस वृद्ध से पूछा--"बच्ची को इस तरह बाँधकर क्यों रखे हो ?"

"खिलौने बेचने निकला हूँ बाबू, इसे कौन देखता।"

"कौन है यह ?"

"पोती है बाबू।"

"तो ? परिवार में कोई नहीं है ?"

"कोई रहता तो बच्ची के नन्हे पैरों को कष्ट क्यों देता !"

दोनों की दृष्टि बच्ची के पैरों पर टिक गयीं। विषमता के इतने कठिन राह पर बढ़ते ये नंगे छोटे-छोटे कोमल पग ! गीता की आँखें नम हो गयीं। दुखी होकर बोली---"अरे-रे-रे ! थक जाएगी बिचारी !"

"दो धंटे के बाद कुछ आराम कर लूँगा। वैसे, इन पैरों को चलने की अब आदत हो गयी है। खैर ! बताएँ, कौन-सा खिलौना दूँ ?"

"कोई दो दे दें।" खिलौनों से खेलने की उम्र उसके बच्चों की नहीं थी, इसलिए बेमन से गीता बोली।

"कहाँ से आये हो भाई ?" विनोद दास ने पूछा।

"नवादा से बाबू जी। वहीं जमीन थी, थोड़ा खेत-पथार भी था, लेकिन--अब कहाँ ! भाग्य में ही नहीं था, इसलिए समय लताड़ मार गया !" बोलते-बोलते वह अपनी आँखों को पोछने लगा।

"यहाँ कैसे आए ?"

"रोजी-रोटी के लिए।"

"इसकी माँ ?"

"मर गयी।" संक्षिप्त उत्तर देते हुए वह वहीं जमीन पर बैठ गया।

"मर गयी !" सहानुभूति और अफसोस व्यक्त करते हुए विनोद दास ने उसकी कही हुई बात को दोहरायी।

"हाँ बाबू ! बड़ी नेक थी बिचारी। रोटी बनाकर इंतजार में बैठी रहती। जब-तक न खाऊँ, एक निवाला भी अपने मुँह में न डालती। लेकिन का कहें ! अस्पताल दूर था और सवारी की भी दिक्कत ! बिचारी घर में ही प्रसव-पीड़ा सहती रही लेकिन साँस दगा दे गयी। और--और इसे जन्म देते ही वह चली गयी। बेटी का मुँह भी न देखा।"

"अरे-रे----! यह तो बहुत बुरा हुआ !" उसकी बातें सुनकर गीता की आँखें भर आयीं। रूँधी आवाज में उसने पूछा---"और इसके पिता ?"

"शहर में काम करता था। समय निकालकर घर भी आता था। एक बार आया तो साथ में खतरनाक बीमारी लेकर ! वो--क्या नाम था--!" याद करने की कोशिश में वह लगा रहा। याद न आने पर सिर धुनते हुए बोला--"अंगरेजी में कुछ नाम था। तब---उसके इलाज के लिए खेत गिरवी रख दी--पूरे पंदरह हजार में ! सोचा कि ठीक होकर अपना खेत छोड़वा लेगा, लेकिन---न बेटा रहा, न खेत ! अब-----!" उसका गला भर आया। "अब जो हुनर है, उसी से रोटी मिल जाए, बस !" हाथ जोड़ते हुए उसने बड़ी दीनता के साथ कहा।

"अरे-रे- ! नहीं भाई ! मेहनत करने वाले कर्म क्षेत्र में योद्धा होते हैं, हाथ जोड़ते वे अच्छे नहीं लगते।" विनोद दास की इस उक्ति को सुनकर गीता उन्हें वक्र दृष्टि से देखने लगी।

"काहे का योद्धा बाबू ! समय से हार चुका हूँ ! बस साँस चलती रहे---भगवान से यही प्रार्थना है, नहीं तो इस बच्ची को कौन देखेगा !" अपनी पोती के सिर को सहलाते हुए वह रोने लगा। तुरत ही अपनी भावनाओं को समेटते हुए वह बोला--"कौन-सा खिलौना दूँ बाबू ?"

"कोई भी दो दे दें।" गीता ने भारी मन से फिर वही बात दोहरायी। उसने उसे दो खिलौने दे दिये। लाल पंख वाली एक चिड़िया और कई रंगों में रंगे पंख वाला एक मोर।

"कितने पैसे हुए ?"

खिलौने वाला कुछ पल सोचता रहा, फिर बोला--"बीस रुपये जोड़ा है, आप अठारह रुपये ही दे दें।" विनोद दास और गीता, दोनों एक-दूसरे को देखने लगे। गीता अंदर गयी और बीस रुपये का एक नोट उसे थमाती हुई बोली--"खिलौनें बहुत सुंदर हैं !" उसकी पोती को उसने एक पैकेट बिस्कुट और नमकीन भी दिए। रुपये लेकर वृद्ध ने अपनी धोती में बँधी एक गाँठ को बड़े जतन से खोलकर रुपये रखे और दो रुपये का सिक्का वापस करने लगा। विनोद दास शीध्रता से बोले--"नहीं-नहीं भाई ! रुपये वापस नहीं चाहिए।"

"न बाबू, आप भले लोग हैं। यहाँ किसे इतनी फुरसत है कि कोई किसी की बात सुने ! सभी अपने में उलझे हैं। मर जाओ तो कफन के नाम पर पाँच-दस रुपये देने वाले बहुत मिल जाएँगे, लेकिन जिंदा रहने पर दो रुपये की भी मदद करने वाले लोग बहुत कम होते हैं। अब क्या करूँ ! हमें भी रोटी चाहिए, इसलिए अठारह रुपये ले लिये, वरना लेता भी नहीं।" दो रुपये गीता के हाथ में थमाकर वह अपने रास्ते चला गया। अपने दादा का हाथ थामी वह बच्ची बार-बार पीछे मुड़कर देखती जा रही थी। वह उन्हें धन्यवाद दे रही थी या उनकी संपन्नता का परिहास उड़ा रही थी--कौन जाने !

अपनी हथेली में रखे दो रुपये को गीता अपलक देखती रही। विनोद बाबू जमीन पर अपनी नजरें गड़ाये कुछ सोच रहे थे। "भौतिक विपन्नता में इतनी आत्मिक संपन्नता ! वाह ! दीनता में उदारता का यह दृश्य कितना मर्म स्पर्शी है !" गीता मन-ही-मन सोच ही रही थी कि उसकी दृष्टि विचारमग्न अपने

पति पर गयी। तुरत त्योरी बदलती हुई बोली---"क्यों ? कोई नयी कविता का विषय आपको मिल गया क्या ?"

एक आह भरते हुए उन्होंने अपनी आँखें जमीन से हटाकर आसमान पर टिका दीं। बड़े गंभीर होकर बोले--"ऐसी दीनता पर बहुत कविताएँ लिखी जा चुकी हैं ! मर्म स्पर्शी इतनी, कि जिन्हें पढ़कर दिल दहल जाए ! लेकिन पता है, कवियों और उनकी कविताओं का क्या हुआ ? कविताएँ खूब सराही गयीं, कवियों का नाम हो गया किंतु दीनों की दीनता पूर्ववत् जमी रही।"

"क्यों ? आप ही कहा करते हैं न कि साहित्यकार समाज सुधारक होता है---जागरूक इंसान होता है--फिर ऐसी स्थिति क्यों ?" गीता के प्रश्न में अग्नि की धधक थी, स्वर में विद्रोह की भावना थी I

"सही कह रही हो। साहित्यकार समाज सुधारक भी होता है, क्योंकि वह जागरूक इंसान है, किंतु स्वयं जागकर भी जगाये तो किसे ? सोए हुए को न ? यहाँ सोए हुए शायद ही कोई है, सभी मटियाकर (सोने का अभिनय करते हुए) पड़े हुए हैं। और--यह सच है कि सोए हुए को जगाया जा सकता है मगर जो सोने का अभिनय कर मटियाकर पड़े हैं, उन्हें क्या किया जा सकता है ! दीनता पर लिखी गयीं कविताएँ या कहानियाँ लोग द्वारा सराही तो खूब गयीं लेकिन मर्म स्पर्शी होकर भी केवल वाहवाही का विषय बनकर रह गयीं, तत्व मंथन करने के बाद भी लोग, न इन्हें मन में रख पाये न मस्तिष्क में। अब तुम्हीं बताओ, यहाँ किसी साहित्यकार का क्या दोष है ? दोष तो लोग की मानसिकता में है न !" गीता के प्रश्न का जवाब वे मुसकराते हुए दे रहे थे, किंतु उनकी मुसकराहट वेदना लिप्त थी।

"जब अपने-आप को वे समाजसुधारक मानते हैं तो पहले उनकी मानसिकता को बदलें। मानव हो या सोच---अलंकार तो जीवंत पर ही शोभित होते हैं, मृत पर नहीं।" एक आह भरते हुए गीता ने कहा। तुरत ही, जैसे उसे कुछ

स्मरण हो आया I उसने कुछ खीझते हुए पूछा----"अच्छा बताएँ तो ! उस बेचारे को आपने 'योद्धा' क्यों कहा ? कुछ ज्यादा न बोल गये ?"

"जन-जीवन के प्रति साकारात्मक दृष्टिकोण तो होना ही चाहिए। अब किसी मजदूर को योद्धा संबोधित करना--यह तो केवल साकारात्मक दृष्टिकोण रखने वाला ही कर सकता है न ?"

"लेकिन मैं मानती हूँ कि व्यक्ति को उसके यथार्थ से परिचित होना चाहिए।"

"बिलकुल !"

"ऐसा मानते हैं फिर भी वे बड़ी-बड़ी बातें बनाने से बाज न आएँगे ! घर जल गया तो कह दिया कि अग्नि देव प्रकट हो गये थे !"

वैसे, गीता को वे निःरस मानते थे इसलिए समझते थे कि साहित्य का मर्म समझना इसके बूते के बाहर है लेकिन आज उसके साथ वार्तालाप करना अच्छा लग रहा था। आश्चर्य से उन्होंने पूछा---"मतलब ?"

"क्या कहा आपने ? मेहनत करने वाले योद्धा होते है, यही न ? घुसा दी न अपनी कविता वाली बात ? सच्चाई तो यह है कि मेहनत करने वाले आज मजदूर बनकर रह गये हैं।"

"यह तो देखने और समझने का अपना-अपना दृष्टिकोण है। नाकारात्मक दृष्टि रखोगे तो स्वयं को मजदूर पाओगे--बेवश, लाचार और शोषित। लेकिन उसी को साकारात्मक दृष्टि से देखो तो अपने-आप को एक योद्धा पाओगे---अपनी कर्मभूमि में परिस्थितियों से लड़ने वाला योद्धा ! जीवन में हर व्यक्ति को परिस्थितियों से ही नहीं, अपने-आप से भी लड़ना पड़ता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो हर व्यक्ति एक योद्धा है, केवल मेहनत करने वाले ही नहीं।"

गीता के पास इस बात की कोई काट न थी। कुछ देर दोनों के बीच चुप्पी बनी रही। अचनक विनोद दास कमरे में गये और कपड़े बदलने लगे। बिना स्नान-पूजा किये वे कहीं निकलते नहीं थे इसलिए गीता पूछ बैठी--"क्या हुआ ? कहाँ जा रहे हैं ?"

"आता हूँ, एक कर्ज अदा करना है।" कमीज का बटन लगाते हुए उन्होंने कहा।

"कर्ज ? किसका ?"

"आकर बताऊँगा।" बोलते हुए वे बाहर निकल गये।

सुबह आठ बजे के गये तीन बजे दोपहर तक वे न लौटे। गीता को घबड़ाहट होने लगी। गीता का फोन भी बंद पड़ा था। बाहर बरामदे में आकर बड़ी बेचैनी से वह विनोद दास का इंतजार करने लगी। करीब चार बजे वे घर वापस लौटे। उन्हें देखते ही वह गुस्से से भर आयी और रूँधे गले से उन पर झल्लाई----"कहाँ चले गये थे ?"

गीता की बेचैनी का अंदाज लगाते हुए उन्होंने कहा--"तुम्हारा फोन लग ही नहीं रहा था तो-----।"

"फोन में आग लग गयी। आप गये थे कहाँ ? बिना बताये ?" गुस्से से भरी गीता ने तेज आवाज में पूछा।

"कहा था न, कर्ज अदा करना है !" इतमीनान से वे बोले।

"हाँ, लेकिन किसका कर्ज ? कौन-सा कर्ज ? वो भी अचानक ?"

"उस वृद्ध ने हमारे हृदय को ही नहीं, मस्तिष्क को भी उद्वेजित कर दिया। क्या यह हमारे ऊपर कर्ज नहीं है ? उसकी उदारता तो देखो ! दो रुपये के लिए वह अपना ही नहीं, बच्ची के पैरों को भी थकाएगा, मगर---देखो तो !

उसकी इंसानियत ! उसके इसी इंसानियत से हम दब गये। हमारे ऊपर यह कर्ज न हुआ ? उसकी संवेदना मेरे मर्म को छू गयी, अनायास करुणा की धार बह निकली और--और एक चुनौती बनकर मेरी लेखनी के आगे खड़ी हो गयी !"

"यानी कि आप उसकी दीनता पर कोई नयी कविता लिखेंगे ?" वह और भी अधिक खीझ उठी I

"इतना दीन मैं नहीं कि कफन को अपने सिर की पगड़ी बनाऊँ। फिर फायदा भी क्या ! वाहवाही तो मिलेगी, लेकिन वह वाहवाही, उस वृद्ध की चीत्कार का सामना कर पाएगी ? उसने मेरे कवि कर्म को आज चुनौती दी है !"

"कभी तो धरातल पर रहकर बातें कर लिया कीजिए !" विनोद दास की बातें समझ न आने पर गीता बोली।

"मेरी भावना भले ही आसमान को छूती हों, किंतु स्वयं मैं ? धरातल पर ही हूँ। यह देखो-----!"

उन्होंने ढेर सारे रुपये दिखाते हुए बड़े गर्व से कहा-----पूरे बीस हजार हैं ! और---पाँच हजार हमारे रहेंगे !"

"लेकिन क्यों ? कहाँ से आये ये रुपये ?"

"हम कवि वर्ग आए दिन गोष्ठी करने में चार-पाँच हजार रुपये मिलकर खर्च कर देते हैं --यही-- माइक --नाश्ता-पानी --मंच निर्माण--कुर्सी-टेबल वगैरह-वगैरह में। तो क्या, किसी पुण्य काम के लिए मिलकर मदद नहीं कर सकते ? और--और तुम कामिनी भटाचार्या की बात करती हो न ! उसने सबसे ज्यादा अनुदान दिये ! लेकिन, मैं भी कोई ऐरा-गैरा कवि नहीं हूँ ! उसने चार हजार दिये, तो मैं पाँच हजार दूँगा।"

गीता की आँखें खुशी से चमक उठीं। बड़ी इतमीनान से विनोद बाबू बोले--
"तुम्हें क्या लगता है, हम कवि वर्ग अपनी भावना को केवल कागज पर उतारते हैं ? समस्याओं को चित्रित करना ही हमारा धर्म है ? पहले हम मानव हैं, इसलिए कवि धर्म के पहले मानव धर्म देखते हैं। यह अलग बात है कि किसी के घर का दरवाजा खटखटाकर अपने धर्म का निर्वाह नहीं करते, क्योंकि असमर्थता हमारी मजबूरी है । लेकिन ! लेकिन समस्याओं का आभास होने पर उनके निवारण का प्रयास जरूर करते हैं।"

प्रसन्नचित्त होकर गीता अपने पति को देखकर सोच रही थी--सच में,कलाकार की कला सृजन को समर्पित है। सुंदर शब्दों द्वारा काव्य निर्माण वे करते हैं, तो सुंदर विचारों द्वारा समाज को भी सुंदर बनाने का प्रयास करते हैं। धन्य है कवि कर्म !" वह अपने पति को अपलक निहारती रही।

"ये रुपये उस वृद्ध खिलौने वाले के लिए ही हैं न ?"

"हाँ, उसी के लिए हैं।"

"एक बात पूछूँ ?"

हाँ, जरूर !"

"हमारे समाज में वही एक लाचार नहीं, किस-किस की सहायता हम कर सकते है ?"

"बस यही प्रश्न तो है जो हमारी आँखों को बंद कर देता है और हमारे हाथों को मोड़ देता है। अरे ! कुछ न करने से तो भला है कि कुछ तो करें ! सामर्थ्य के अनुसार किसी के लिए तो आगे बढ़ें, बाकी देखा जाएगा !"

"हाँ, यह भी ठीक है ! लेकिन----उसे तो पंदरह हजार रुपये ही चाहिए न ?"

"खेत छोड़वाएगा तो बीज-बैल के लिए रुपये चाहिए कि नहीं ?"

गीता की आँखें नम हो गयीं। मन-ही-मन ग्लानि से भर उठी कि आजतक उसने अपने पति को न समझा। परंतु उसका भी दोष नहीं था। समय आने पर ही किसी की सामर्थ्यता और सार्थकता सिद्ध होती है। उसे अपने पति पर बड़ा गर्व हो रहा था--"पत्थर हृदय नहीं है, तभी तो कविता के रस टपकते हैं ! तभी तो उनके व्यक्तित्व में उदारता के फल लगते हैं ! सामने में ही रहने वाले वर्मा जी को देखो ! असीम दौलत है मगर फाटक पर कुत्ता बाँधे रहते हैं ताकि कोई इधर फटके भी न !"

प्रसन्नचित्त हो वह विनोद दास से बोली--"पता है ! आज मुझे बड़ा गर्व हो रहा है कि मैं एक कवि की पत्नी हूँ।"

"मुझे भी तुम पर गर्व हो रहा है।" गीता के प्रति उनकी धारणाएँ अब बदल चुकी थीं।

"क्यों ? मैं कोई कवयित्री तो हूँ नहीं !"

"गलत ! जिसने प्राणियों की संवेदना के रसों का आस्वादन कर लिया---प्रकृति की दृष्टि में वह भी कवि है, वह भी कवयित्री है।" पति की बातों से वह फूली न समायी। गद्गद होकर बोली----"इसी बात पर एक कविता सुना दें।" राहत के साथ ठंढी आह भरते हुए उन्होंने चंद पंक्तियाँ सुनायीं ---

"नहीं कहूँगा अभी कुछ, अभी मुझे है जाना,

भूखा तेरा पति बेचारा, दे दो उसको खाना।"

दोनों खिलखिला उठे।

खुली चुनौती

(1)

"गे माई ---दुआर पर घोड़ा आ गेलयी ! सजल-सँवरल ----उज्जर-उज्जर (उजला-उजला)---और लाल-लाल गद्दा वाला !" सजे हुए घोड़े को देखकर और डुगडुगी की आवाज सुनकर खुशी से चिल्लाती हुई बन्नी अपनी माँ के पास दौड़ी आयी। डुगडुगी की आवाज सुनकर भी तुलसी घर के अंदर ही थी, किंतु कुछ पल के लिए काम रोक कर दरवाजे के बाहर झाँकने लगी। खुशी के कारण उसका रोम-रोम खिल उठा था। चमर टोली में ऐसा पहली बार देखा जा रहा था कि बारात में डुगडुगी के साथ कोई घोड़ा भी था, जिसपर बैठकर दूल्हा ब्याह रचाने जाने वाला था।

"माई ! चल न घोड़ा देखे !"---माँ का हाथ खींचती हुई बन्नी खुशी से बोली। आनंदित होती हुई तुलसी, घर के अंदर से ही झाँक-झाँक कर बाहर का दृश्य देख रही थी। शायद वह अपनी खुशी सभी को दिखाना नहीं चाह रही थी। माँ का हाथ छोड़ कर बन्नी, अपने भाई बनवारी के पास जाकर बोली---"भइया हो ! घोड़ा आइल हयी ! (घोड़ा आया है) ओकरे पर बैठकर ससुराल जइब न ? (उसी पर बैठकर ससुराल जाएँगे न ?) और---और--भौजी भी एही पर अइथिन न ?" (भौजी भी इसी पर आएँगी न ?)

बनवारी भी बहुत खुश था, किंतु अपनी खुशी को छिपाते हुए गंभीर बनने का अभिनय करते हुए बोला---"धत् पगली ! तोहर भौजी घोड़ा पर बैठेगी ! वह तो डोली में आएगी रे ! घोड़ा पर तो मरद लोग चढ़ते हैं !"

"और हम ?" उसकी खुशी पर आश्चर्य हावी हो गया।

"तू का ? तू डोली में बैठकर ससुराल जाएगी। देखना ! जब बनवारी घोड़ा पर चढ़कर ब्याहने जा रहा है, तब उसका बहनोई भी घोड़ा पर ही आएगा !"

"धत् !"---शरमाकर बन्नी वहाँ से चली गयी।

तुलसी के पैर धीरे-धीरे बाहर की ओर खिसकने लगे, जबकि गाँव और परिवार वाले कब का दरवाजे तक पहुँच गये थे। सभी ललायित और आश्चर्य चकित होकर सजे-सँवरे घोड़े को देख रहे थे। तुलसी की नजरें घोड़े की अपेक्षा वहाँ खड़ी औरतों पर ज्यादा थीं---यह देखने के लिए कि कौन खुश है और कौन जल-भुन रही है। सामने ही खड़ी बुधिया पर नजर पड़ते ही वह मन-ही- मन बुदबुदाने लगी---"अब ? बेटा फूल से सज्जल मोटर पर ब्याहने क्या गया, गाँव भर के लोग नजर ही लगाने लग गये ! ब्याह के बाद बेटा बीमार पड़ गया---दुआर पर खड़ी होकर किसे न घिनाल-घिनाल गाली बकी कि उसके बेटा को सब नजरा दी ! अब उसको देखे से, हम्मर (मेरे) बेटा न नजराएगा का ?" तुरत ही विचार बदलती हुई मन में बोली--"जाए दे ! भगवान सब देखेवाले हैं !"

सभी की ओर से नजरें हटाकर वह भी डुगडुगी की आवाज में मगन होकर सजे-सँवरे घोड़े को देखने लगी। बनवारी की मामी धीरे-से उसके कान में बोली---"वाह दीदी ! आज तक ऐसा न हुआ कि हमारी बिरादरी का कोई दूल्हा घोड़ा पर चढ़ा हो !" तुलसी गद्गद हो मुसकराकर रह गयी। बगल में ही खड़ी बनवारी की छोटी चाची को अपने कंधे से झटका देती हुई उसकी मामी बोली---- "तोहर (तुम्हारे) खानदान का तो नाम हो गया ! खानदान तर गया ! अपनी बिरादरी में घोड़ा पर दूल्हा ! कोई सोचा भी न होगा !"

मुँह चमकाती हुई वह बोली----"इमें गाँव का नाम और खानदान तरने वाली बात कौन-सी है भौजी ? घोड़ा ही आया है न ? वो भी माँग कर ! सूरुज (सूरज) बाबा का घोड़ा तो न आ गया !" बनवारी की मामी समझ गयी कि

उसकी बड़ी ननद का नाम और ठाठ देखकर उनकी देवरानी जल-भुन गयी है । अपने घर की बात होती तो वह मुँह-ठट्ठा भी कर लेती, लेकिन ननद के घर में क्या बोलती ! आख़िर वह थी तो एक मेहमान ही न, इसलिए चुप रही । तुलसी को न किसी की आवाज सुनाई पड़ रही थी, न डुगडुगी के शोर से उसका ध्यान भटक रहा था । बस घोड़े पर अपलक नजरें टिकी थीं, क्योंकि वर्षों बाद आज उसकी मनोकामना पूर्ण हो रही थी ।

(2)

पाँच-पाँच बेटे उसने जने थे, जिसमें से तीन तो जन्म के साल भर बाद ही माँ की कोख में दाग लगा गये । चौथा बेटा, मुरली पाँच वर्ष का हुआ । एक दिन तुलसी मुरली को लेकर अपने भाई की शादी में मायके जा रही थी । रास्ते में उसने घोड़े पर चढ़े दूल्हे को बरात के संग जाते देखा । वह मचल उठा---"माई ! घोड़ा पर चढ़म (चढ़ेंगे) !"

"घोड़ा पर ?"--वह उसे समझाने लगी---"अप्पन बिरादरी के लोग घोड़े पर न बइठते (बैठते) हैं बिटवा !"

"तो कौन लोग बैठते है ?"

"बड़ जाति के लोग ।"

मुरली को शायद बात समझ न आयी । मुरली जिद करने लगा । रास्ते में ही बैठकर पैर पटकने लगा । तुलसी खीझकर एक चाँटा उसे लगाती हुई बोली---"घोड़ा पर ! बाप-दादा कभी घोड़े के लगामो (लगाम भी) पकड़े हैं ? पटवारी के अस्तबल में घोड़वा के लीद (घोड़ा की लीद) साफ करते-करते बाप के दिन गुजर रहे हैं, और बेटा चला है घोड़सवारी करने ! बाप में मक्खी मारने की हिम्मत नहीं, बाकी इ चला है शिकार खेलने !" मुरली रोते-रोते चुप हो गया, मगर उसका ध्यान घोड़े और उस पर बैठे दूल्हे पर ही अटका रहा ।

कुछ देर बाद वह आशा भरी नजरों से अपनी माँ को देखते हुए उसने पूछा---"अभी न तो बिआह (ब्याह) में ?" उसे हँसी आ गयी, मगर चुप थी। मायके में भाई की शादी का धूम मचा था। बरात निकलने को हुई तो डुगडुगी की आवाज से गाँव गूँज उठा। मुरली अपने मामा के पास जाकर बोला---"मामा ! अपने साथ हमें भी घोड़ा पर बिठाएँगे न ?"

"का ? घोड़ा पर ! कहाँ है रे ?" हँसते हुए उसके मामा ने पूछा।

"बरात में घोड़ा न आया ?"

जवाब के बदले वे ठहाका लगाने लगे। मुरली का मन छोटा हो गया। उसकी खुशी उनकी हँसी में डूब गयी। चूँकि बारात को दूर जाना था और मुरली बहुत छोटा था, इसलिए वह बारात न जाकर माँ के पास रह गया। बारात विदा होने के बाद सारी औरतें गीत-गायन में लगी थीं, तभी उसकी बड़ी मामी की नजर मुरली पर पड़ी और उसने पूछा---"काहे हो मुरली ! बरात न गेल (गये) ?"

"ना ! घोड़ा नहीं आया न ! जाएँगे तो घोड़ा पर, न तो----न जाएँगे।" उसका स्पष्ट जवाब था। बात सुनकर सारी औरतें हँस पडीं। बड़ी भाभी ने हँसते हुए मजाक में कहा----"हे तुलसिआ ! सुन लेला न ? बेटा घोड़ा पर चढ़तव ! अप्पन बिरादरी में तो आजतक अइसन ना होलई, हाँ--! उ बभना हई न ?---ओही बुढ़वा---! एही फागुन में मौगी जहर खाके मर गेलई अउरो तुरते चढ़ते बइसाख बिआह करे ला उमताएल हई---ओकरे संग तू बिआह कर ला---बेटा को बभना बाप भी मिल जइतव अउर घोड़ा भी।" (हे तुलसी ! सुन ली न ? बेटा घोड़ा पर चढ़ेगा ! अपनी जाति में तो आजतक ऐसा न हुआ, हाँ--वह बभना है न ?----वही बुढ़वा---! इसी फागुन में बीवी जहर खाकर मर गयी है और चढ़ते बैशाख ब्याह रचाने के लिए उमताया हुआ है---उसी के साथ आप ब्याह कर लें, बेटा को बभना बाप मिल जाएगा और घोड़ा भी।)

इस भद्दे मजाक पर सभी औरतें हँस-हँसकर लोट-पोट हो गयीं, किंतु तुलसी को बड़ा बुरा लगा। अपनी भाभी से तो उसने मुँह फूला ही लिया, अपना गुस्सा निकालने की लिए मुरली को पीटने लगी---"घोड़ा पर चढ़बे ? घोड़ा पर ? इ जनम में मर जा, दोसर जनम में ऊँच बिरादरी में पैदा लेकर घोड़ा पर चढ़ !" मुरली चिल्लाता रहा--"माई---! घोड़ा पर न चढ़म माई---! घोड़ा पर न चढ़म---!" मगर--- उसे कूट-कूटकर उसपर अपना गुस्सा वह उतारती रही। अपने घर वापस आए हुए महीना- भर ही बीता था कि मुरली बीमार पड़ा। डॉक्टर से लेकर ओझा तक लगे रहे, मगर----! घोड़ा पर चढ़ने का अरमान लिए वह चला गया। मुरली से बिछोह को वह सहन न कर पायी और विक्षिप्त-सी रहने लगी। बैठी-बैठी कहती रहती---"बाबू रे ! घोड़ा पर चढ़ा देम ! आजा बेटवा----!" उसका करुण विलाप सुनकर लोग का हृदय पसीज जाता। उसे सांत्वना देते हुए कहते----"अब धैर्य रखो, जाने वाला कब आता है !" लेकिन----बड़े विश्वास के साथ तुलसी कहती---"ना ! मुरली जरूर अइतई (आएगा), घोड़ा पर चढ़ेला !"

एक दिन सवेरे-सवेरे वह गाँव से बाहर कहीं जा रही थी, तभी उसके जेठ ने उसे देखा। तुलसी की नजर उन पर पड़ी तो वह घूँघट निकाल आगे बढ़ने लगी। भाभो को वे क्या बोलते---! इसलिए कुछ देर वहीं खड़े होकर सोचते रहे---"बहुरिया को का हो गया ! कहाँ जा रही होगी !" वे जानते थे कि उसकी मानसिक स्थिति ठीक नहीं, इसलिए मन न माना तो आवाज लगा दी--"बहुरिया ! सवेरे-सवेरे कहाँ जइते ह ?"

"गोर लागी ला भइया जी ! यहीं, पटवारी जी के घरे जा रहली हे।" पटवारी जी के अस्तबल और गोशाले की देख-रेख का जिम्मा उसके पति पर ही था। कभी-कभी वह वहीं रुक जाता था। उसने सोचा---"हो सकता है, अपने पति से कोई काम हो ? लेकिन--भोर-भिनसारे !" बात पच नहीं रही थी ! उन्होंने पूछा-----"काहे ? एतबारुआ से कोई काम हव (है) का ?"

"न-न ! उ तो वहाँ न हैं। कल रात से ही रावापुर गेल हैं, मालिक के साथ गाय खरीदे।"

"तब काहे जा रहल हे ?" (तब क्यों जा रही हो ?)

"उनका से घोड़ा माँगे। मुरली के चढ़े ला।" तुलसी के मुँह से ऐसी बात सुनकर वे हतप्रभ रह गये---"यह क्या ! बहुरिया पगला गयी है !" कुछ सोचकर वे बोले---"घोड़ा तो तोहर दुआर पर बाँधल है।" खुशी से तुलसी चहक उठी---"का ? घोड़ा हम्मर दुआर पर है !" जवाब की प्रतीक्षा किए बिना वह घर की ओर दौड़ पड़ी।

मुरली की मृत्यु के वर्ष भर बाद ही बनवारी का जन्म हुआ। लोग उससे कहने लगे---"देख, तोहर मुरली वापस आ गया !" मगर---वह कुछ न बोलती। उसकी मानसिक स्थिति में कोई सुधार न हुआ। बनवारी का पालन-पोषण उसकी दादी करती। इस तरह चार वर्ष बीत गये।

गरमी की शाम थी। तुलसी बाहर बैठी थी और बनवारी वहीं खेल रहा था। उसी वक्त राजपूताने से बारात गुजरी। बारात में सजे-सँवरे घोड़े को देखते ही बनवारी चहक उठा---"माई--माई ! घोड़ा--घोड़ा ! घोड़ा पर चढ़म---!" बनवारी की आवाज सुनते ही वह चौंक कर फटी-फटी आँखों से उसे गौर से देखने लगी। कुछ देर बाद अचानक चीख पड़ी---"हम्मर मुरली--! तू आ गया रे----!" बनवारी को गले से लगाकर वह फूट-फूटकर रोती हुई कहने लगी---"हाँ-हाँ ! तोरो घोड़े पर चढ़ा देम ! देख लिह बेटा ! घोड़े पर चढ़ के तू बिआहे जइब ! तोहर माई तोरा घोड़ा पर चढ़इतब।" ("हाँ-हाँ ! तुम्हें भी घोड़ा पर चढ़ा दूँगी। देख लेना बेटा ! घोड़ा पर चढ़ कर ही तू ब्याहने जाएगा। तुम्हारी माँ तुम्हें घोड़ा पर चढ़ाएगी।") उसकी मानसिक स्थिति ठीक देखकर लोग कहते कि यह मुरली नहीं, बनवारी है। मगर---- वह इस बात को मानने के लिए तैयार न थी। वह उसे 'मुरली' ही कहकर पुकारती।

(3)

"ओ बहुरिया ! का देखते हें ? बारात निकले में देर होतई (होगी)----देवता पूजे ला हऊ कि न ?(देवता पूजना है कि नहीं ?)"---अपनी सास की बात सुनकर वह बोली---"हाँ-हाँ, मुरलिया को बुलाएँ ।"--मगर उसका ध्यान अभी भी घोड़े पर था। अचानक उसकी नजर भीड़ की ओर चली गयी। वहाँ पर खड़े लोग बड़े ललायित नजरों से घोड़े को देख रहे थे। बंशी चहक उठा---"हो तुलसी भौजी ! तू तो कमाल कर देला हो ! इ चमरटोली में घोड़ा संग बारात !" तुलसी गर्व से बोली---"बेटा केक्कर हई हो ! (बेटा किसका है !) तुलसी के न ! तीन-तीन बेटा गँवइली हे---(गँवाई हूँ) ! भगवान के आशीर्वाद से मुरलिया वापस आ गेलई (आ गया) ! घोड़ा पर बारात न निकलतई ?" (निकलेगी ?)

उसकी खुशी, उसकी देवरानी से देखी न गयी । जलभुनकर बोली---"ऐसी खुशी किस काम की ! भगवान ऐसी खुशी न दें, बाकी रुलाएँ न !" पास ही उसका देवर 'बंशी' बारात जाने के लिए खड़ा था। नया-नया कुर्ता-पाजामा ! कंधे पर चरखानी लाल गमछा ! शान से पान चबाता ! शान में क्यों न रहता ! दूल्हे का चाचा जो था ! अपनी जोरू के मुँह से जली-कटी बात सुनकर उसका पारा चढ़ गया । पीक थूक कर अपनी जोरू पर झपटा और एक तमाचा जड़ते हुए झल्लाया---"देखल न जा हऊ तो जो भाग -----! न त आँख फोड़ ले ! (देखा नहीं जाता है तो भागो---! नहीं तो आँख फोड़ लो !) बिआह (ब्याह) के मंडप में श्राध (श्राद्ध) का मन्तर पढ़े बैठल है !"

उसकी जोरू भी पीछे न रही। फिर क्या ! दोनों तरफ से गालियों की बौछार शुरु हो गयी । डुगडुगी बजना बंद हो गयी । उत्सुकता से भरकर सभी लोग इस दृश्य का मजा ले रहे थे। कुछ लोग अपने मुँह खोले थे, कुछ लोग अपने होंठों को फैलाकर दाँते दिखा रहे थे। ऐसा जान पड़ रहा था कि डुगडुगी की

आवाज की अपेक्षया, उन्हें गाली-गलौज सुनने में ही मजा आ रहा था। अपनी देवरानी के बचाव में तुलसी आगे आयी। बंशी को कोसती हुई बोली---"अरे इ सब के खानदानी आदत है ! कोई काज में जब-तक झगड़ा-झंझट न होगा----काज पबित्तर (पवित्र) होगा ही नहीं। उ मुरलिया के बाबू ! बहिन के घर गये थे --- दौरा साज के--- चौथारी लेकर---और वापस आये कूटाके। अब बताएँ ! दारू पीकर गाली-गलौज करने पर कोई का करता ! आरती तो न उतारता न ?"

"क्या बोल रही थी ? सुनी नहीं ? ऐसे बोलना चाहिए ?" पत्नी की तरफदारी में बोलती तुलसी को देख, चिढ़ कर बंशी झल्लाया।

"हाँ, सब सुनली (सुना) लेकिन गलत का बोली ? आयँ ? नौटंकी दरवाजा पर न होता है----मैदान में होता है, समझे ? अब चलो--बात खतम !" बंशी चुप हो गया। हँसिया के ब्याह में खुरपा का गीत क्या गाता ! मन-ही-मन भन्ना उठा---"साला ! सारा मुड खराब हो गया !" डुगडुगी बजाने वाले को भृकुटी तान कर देखते हुए वह झिड़का---"साले ! तू सब को का हुआ रे ? चल बजा !" डुगडुगी फिर से बजने लगी। माहौल पूर्ववत् हो गया। सभी औरतों के साथ तुलसी की देवरानी भी गला फार-फारकर गीत गाने लगी। देवता पूजन के बाद बारात निकली। गाँव-भर के नौजवान, युवक वर्ग, बुज़ुर्ग और वृद्ध लोग डुगडुगी वाले के साथ गाँव से निकले।

उन्हें चंदपुर से रावापुर जाना था। दोनों गाँव के बीच लोहिया पुर पड़ता था, जहाँ उच्च जाति के लोग रहते थे। दोनों गावँ के अधिकांश लोग उनकी सेवा में लगे थे और उनसे मिलने वाले मेहनताना से ही उनकी जीविका चलती थी। चंदपुर के लोग के पास खेत भी थे, मगर बहुत कम। सिंचाई की समुचित व्यवस्था न होने के कारण यहाँ के लोग की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। वैसे भी, यहाँ की अधिकांश जमीन तो लोहिया पुर के रईसों के कब्जे में थी।

(4)

"बारात किसकी जा रही है रे ?"---लाला विश्वा ने अपने घोड़े पर चढ़े-चढ़े रास्ता रोक कर बड़े रोब से पूछा।

बारात रुक गयी। डुगडुगी की आवाज बंद हो गयी। घोड़ा भी हिनहिना कर रुक गया। बारातियों की बोलती बंद हो गयी। डुगडुगी के धुन पर थिरकते पैरों में मानो जंजीर लग गयी।

"अरे बोल न ! किसकी बारात जा रही है ? जवाब न मिलने पर दहाड़ते हुए उन्होंने दोबारा पूछा।

"तुलसी और एतबारू के बेटे की---- ।" लाला विश्वा के साथ में आये एक युवक ने कहा।

"आयँ ! एतबारू का बेटा ? वही एतबरुआ, जो पटवारी के अस्तबल में काम करता है ?"

"हाँ-हाँ, वही-वही !"---लाला विश्वा की तरफ से कोई बोला।

"अच्छा ! तो घोड़े की लीद साफ करते-करते उस भिखमंगे ने बेटा को घोड़े पर चढ़ा दिया ! और-तो-और, हमारे गाँव की धरती पर ले आया ! इतनी हिम्मत !" आँखों में अंगार भरकर बारातियों को घूरते हुए वे दोबारा दहाड़े--- "कौन है रे एतबारू ? सामने आ।"

सभी चुप थे लेकिन हाथ जोड़े एतबारू सामने आकर सहमा-सहमा बोला--- "हम हैं मालिक !"

वे उसे ऐसे देखने लगे, मानो उसे कच्चा चबा जाएँगे। दाँत पीसते हुए उन्होंने पूछा--- "घोड़ा कहाँ से लाया रे ?"

"मालिक ! पटवारी जी से माँगा है ।" हाथ जोड़ते हुए एतबारू दीन स्वर में बोला।

"और वह पटवरिया दे दिया ! यह भी न देखा कि किसे दे रहे हैं ! भाईचारा निभाने चला है ! ठहर ! बढ़िया से भाईचारा निभवाते हैं !" बनवारी को उँगली से धमकाते हुए वे डपट पड़े--- और तू---! उतर साले घोड़े से !"

पूरे लोहिया पुर में खबर फैल गयी कि चमरटोली से घोड़े पर सवार होकर बनवारी अपनी बारात ले जा रहा है। लोग वहाँ जुटने लगे। पटवारी को बुलाया गया। उसे देखते ही वे फूट पड़े-- "क्यों पटवारी ? तू ने अपना घोड़ा इसे चढ़ने के लिए दिया ?"

"हाँ ! बड़ी विनती कर रहा था और चूँकि यह मेरा पुरानाऔर विश्वासी सेवक है इसलिए -----।"

"इसलिए का ? इसे तू अपनी बराबरी में बैठाएगा ? हुक्का-पानी साथ पीएगा ? धिक्कार है तुम्हें ऊँची जाति होने पर !"

"इंसानियत भी तो कोई चीज होती है न लाला ! वैसे भी, अपमान का आधार जाति तो नहीं ? हम पढ़े-लिखे हैं और सभी जानते हैं कि ऐसा कोई क़ानून नहीं, जो इसे धोड़ा पर चढ़ने से रोक दे।"

"अरे जा---! क़ानून की ऐसी-की- तैसी ! गाँव-घर की अपनी मर्यादा होती है कि नहीं ? और--और तू क़ानून की बात करता है ? एक जोरू रहते, तू दोसर ब्याह रचाया----यह कैन -सा क़ानून है रे ? पानी में रहकर मगर से बैर ? नियम-कानून बतिया रहा है ? जा----अपने समुदाय से तुम्हें निकालते हैं। आज से तुम्हारे साथ हम सबका हुक्का-पानी बंद I जा--जा ! लेले कानून का सहारा !"

राजपूताना, बभन टोली, कायस्थ मंडल के साथ-साथ कुछ अन्य जाति के लोग भी वहाँ उपस्थित थे लेकिन केवल तमाशबीन बनकर। पटवारी को दुत्कारने वाले कुछ जाति के ही लोग थे।

"सुन लिया न ?" बनवारी को घूरते हुए लाला विश्वा के दोस्त गजपति बोले---"चल उतर घोड़ा से---! और पटवारी---तू भी सुन ले ! अपना घोड़ा वापस लेकर इस पर गंगा जल उड़ेल ! नहीं तो--- आज से--अभी से जाति बहिष्कार----! क्यों भाई ?"-उन्होंने भीड़ में खड़े जन समुदाय से पूछा।

"हाँ--! एकदम ठीक बात है !" सम्वेत स्वर में लोग की सहमति सुनाई पड़ी। पटवारी सहम गये। उच्च जाति के सभी लोग उसके ख़िलाफ थे। 'जाति बहिष्कार बहुत भारी सजा थी। फिर उन्हें भी तो अपना घर-परिवार देखना था ! उनके सारे आदर्श---जन समुदाय के निर्णय में विलीन होने लगे। वे कुछ न बोल पाये। बस, दीन दृष्टि से एतबारू को देखने लगे। जिन आँखों में चमक थी, रौब झलकता था,----उन्हें झुकी देखकर एतबारू ने हाथ जोड़ कर कहा----"ना मालिक ! आप हमें ऐसे न देखें ! हम अपनी विनती वापस लेते हैं मालिक !" वह उन्हें देखकर रो पड़ा।

बनवारी ज्यादा पढ़ा-लिखा न था, किंतु न्याय-अन्याय की पहचान उसे थी। उसने अकड़ कर कहा---"घोड़ा पटवारी चाचा का है,---मैं उन्हें वापस कर दूँगा, क्योंकि अपने कारण हम उन्हें संकट में नहीं डाल सकते। लेकिन----हमें बताएँ--सरकार भी हमें रोक नहीं सकती और आप ? घोड़े पर चढने से रोकने वाले आप लोग हैं कौन ?"

"रे--रे साला ! रे ! कुछ देर घोड़ा पर बैठा नहीं कि रईसी घुस गया ? अपने-आप को रईस की औलाद समझने लगा ?" लाला विश्वा के पीछे खड़े लोग आगे बढ़े और खीझ कर बनवारी को जमीन पर गिराते हुए चीख पड़े ----"चल उतर ! पटवारी का भतीजा ! हमसे सवाल-जवाब करता है ? बनवारी

जमीन पर पड़ा रहा और हतप्रभ हो उसे देखता रहा। क्रोध से उसकी आँखें लाल हो गयीं। चेहरा तमतमा उठा। उसके गाँव में यह खबर फैलते देर न लगी।

तुलसी का चेहरा पीला पड़ गया। घबड़ाकर वह वहाँ दौड़ी आयी और जमीन पर पड़े अपने बेटे से लिपट कर फूट-फूटकर रोने लगी। वे लोग अभी भी अनाप-सनाप बके जा रहे थे और बनवारी की दहकती आँखें उन लोग पर टिकी थीं। अचानक तुलसी उठी और घोड़े की लगाम पकड़ कर लोहिया के जन समुदाय के सामने हाथ जोड़ती हुई विनती करने लगी----"मालिक ! हम्मर मुरली को घोड़ा पर चढ़े दें----न तो यह चला जाएगा----फिर से भगवान के पास ! बहुत बुलाने पर तो यह आया है---।"

"लाला विश्वा कुछ आश्चर्य के साथ हास्यास्पद ढंग से बोले---"इ कौन नया किस्सा है भाई !'

'बनवारी फुरती से उठा और अपनी माँ के हाथ से लगाम छोड़ाते हुए तेज आवाज में बोला---"माई ! हम मुरली नहीं, बनवारी हैं। ----और बनवारी तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाएगा।" तुरत ही उसने अपनी नजरें लोहिया पुर के जन समुदाय की ओर धुमा दीं और गरजते हुए बोला---और अब ? अब तो और भी न जाएगा।"

तुलसी की रुलाई बंद हो गयी। वह आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखने लगी। मन-ही-मन कहने लगी---"सच में, यह--मुरली नहीं हो सकता ! यह बनवारी ही है---हम्मर दूसरा बेटा !" उसने उसे कभी भी बनवारी कहकर नहीं पुकारा, मुरली नाम से ही पुकारती रही। कारण बस यही था कि जैसे मुरली ने घोड़े पर चढ़ने की जिद की थी, वैसी ही अपने बचपन में बनवारी ने भी की थी। और----माँ की भटकती ममता ने बनवारी में ही मुरली का प्रतिरूप देख

लिया था। बारात प्रस्थान के समय बनवारी ने हँसकर माँ को कहा भी था---"माई ! आशीर्वाद तो बनवारी बेटा कहकर दे दो !"

"अरे नहीं रे ! तू भगवान की लीला नहीं जानता ! हम्मर ममता के आगे उनको झुकना पड़ा और तब----हम्मर गोद में फिर से तू आ गया।" कितना विश्वास से उसने कहा था !

"ब-न-वा-री ! वह बुदबुदाने लगी। तुरत ही वह उसके शरीर पर लगे धूल को झाड़ती हुई बिलख कर पूछी---"कहाँ चोट है बाबू ?"

"चोट तो लगी है माई ! दिल और दिमाग में ! लेकिन गिर कर भी मैंने चुनौती का झंडा गाड़ दिया।"

"का कहा रे ? तू चुनौती देगा ? हमें ?"--कुछ लोग रोष से आगे बढ़कर बनवारी का गट्टा पकड़ कर चीखने लगे।

जोरदार झटका दे कर अपने-आप को छुड़वाते हुए कड़क आवाज में बनवारी बोला---"आप को चुनौती क्यों दूँगा ? कोई नामी-गरामी जन समझते हैं क्या अपने-आप को ? चुनौती का झंडा हमनें गाड़ा I हाँ-हाँ, इसी जमीन पर I यहीं ! किसके विरुद्ध---- यह आप लोग न समझेंगे।"

सभी उसे हतप्रभ होकर देखने लगे। लाला विश्वा, जो सबसे ज्यादा उछल रहे थे---उन्हें कोई जवाब न सूझा। शांत नदी के किनारे तो लोग गंदे कपड़े भी धो लेते हैं, किंतु जब नदी में बाढ़ आ जाए---तो सभी दूर से ही इसे देखते हैं।

"पटवारी चाचा ! अपना घोड़ा ले लें।"--उसने बड़े रोब से कहा। अपने साथ आये सभी बारातियों को देखते हुए उसने उसी लहजे में कहा----"चलो भाइयों ! बारात पैदल ही जाएगी !" तुलसी हतप्रभ हो वहीं खड़ी थी। माँ पर नजर पड़ते ही सभी को सुनाकर वह बोला---"माई ! तू घर जा। पतोहू के आने की तैयारी कर। उसे इसी गाँव से ही लेकर आऊँगा---डोली में न सही,

पैदल ही आएगी ! जरा वह भी तो देखे कि कितनी सख्त भूमि पर उसके पति ने चुनौती का झंडा गाड़ा है !" अपने सगे-संबंधियों को इशारा करते हुए गड़गड़ाया----"चलो -चलो ! दरवाजा लगाना है ! और तू सब ? का हुआ रे ? चल, जरा जम कर डुगडुगी बजा !" डुगडुगी बजने लगी। डर के कारण सभी लोग चुप-चाप आगे बढ़ रहे थे, मगर अकेला बनवारी था, जो नाचता जा रहा था। तुलसी ने ऐसा दृश्य देखा तो आह्लादित हो बोल उठी---"वाह ! जीओ मेरे लाल !"

लोहिया पुर वालों ने थप्पर तो उठाये, मगर----अंततः चोट उन्हें ही लगी।

(5)

दो दिनों बाद---------देश भर में खबर फैल गयी। अलग-अलग सामाचार पत्रों में अलग-अलग शीर्षक के अंतर्गत यह घटना उजागर की गयी। किसी ने लिखा----"आजादी क्या सबके लिए नहीं ?" किसी ने लिखा---"----पार्टी के शासन में दलितों पर अत्याचार !" और भी---"कब टूटेगी जातिवाद की दीवार !"-----"स्वतंत्र देश में बँधीं साँसें--!---आदि-आदि। विरोधी दल के लोग अलग ही आवाज उठाने लगे, अच्छा-खासा हंगामा हुआ और बनवारी के घर मीडिया वालों से लेकर विरोधी दल के लोगों का ताँता लग गया। बनवारी के सगे-संबंधियों से जो-जो प्रश्न पूछे गये, उनके जवाब उन्होंने दिये। लेकिन---बनवारी से जब कुछ पूछा गया कि उसने किसे खुली चुनौती दी है---- तो वह केवल मुसकराकर रह गया। इस मुसकान का राज क्या था------मालूम नहीं, किंतु मीडिया वाले शायद समझ गये थे। विरोधी दल वाले भी कन्नी कटाकर वहाँ से चुप-चाप खिसक गये।

जबरजस्त भूत

"ओ रतिया ! रतिया----! खुशी से चीखती हुई पुष्पा उसके घर के बरामदे तक आ गयी। रतिया की अम्मा कुछ पूछती, इसके पहले ही झट वह पूछ बैठी--"चाची, रतिया कहाँ है ?"

"यहीं होगी, लेकिन इत्ता खुश होकर का कहने आयी है ? तेरा ब्याह तय हो गया का ?"

"अरे नहीं चाची ! घर में झगड़ा-झंझट करने से बाबू जी को फुरसत हो तब न मेरे लिए वर ढूँढ़ेंगे !" मुँह बनाकर बोलती-बोलती अचानक वह चहक उठी---"अभी कुछ और बात है ! कहाँ है रतिया ?"

"का बात है रे, कुछ तो बता।" उत्सुक होकर रतिया की अम्मा पूछ बैठी। पुष्पा ने हाँफते हुए धीरे से कहा--"रतिया का दूल्हा आये हैं, अभी-अभी बस से उतरकर ढलान के रास्ते उन्हें आते देखा है।"

पुष्पा की आवाज सुनकर रतिया कमरे के दरवाजे तक ही आयी थी कि उसने मन को आह्लादित करने वाली यह खबर सुनी। उसके गोरे चेहरे पर लज्जा की लाली छा गयी, हृदय में उमंग जाग उठी जिसके कारण धड़कन तेज हो गयी और यही उमंग, अधर पर मुसकान बनकर छा गयी। प्रेम की आर्द्रता से उसकी आँखें सरस हो गयीं जो संभावित सुखद अहसास के कारण बोझिल होकर स्वतः झुक गयीं।

उसकी अम्मा चौंक उठी-- "का ! मेहमान जी आ रहे हैं ?"

"हाँ चाची ! मैं भी वहीं थी, दौड़कर आयी हूँ न, इसलिए जल्दी पहुँच गयी। बस, वे आते ही होंगे।" पुष्पा दौड़कर कमरे में चली गयी और रतिया की अम्मा सोच में पड़ गयी---"इ का अनर्थ है भाई ! नया-नया तमाशा ! रीति-रिवाज, लोक-लिहाज---सब गोबर में ! ब्याह हुए सात महीने ही हुए और बिन बुलाए ससुराल आ गये ! सबसे बड़ी बात तो यह है कि अभी गौना भी न हुआ ! बाप-रे-बाप ! गाँव-घर के लोग का कहेंगे ?" चिंतित हो वह मन-ही-मन सोच ही रही थी कि बदरी दौड़ा आया और हड़बड़ाते हुए बोला---"हो भौजी ! मेहमान आएल हैं !" अपनी सोच से बाहर आकर रतिया की अम्मा बोली--" हाँ-हाँ, दलान में खाट लगा दें, चादर निकाल रही हूँ, बिछा कर वहीं बैठाएँ।"

चादर निकालने वह जा ही रही थी कि कमरे के अंदर से फुसफुसाने की आवाज आयी। कमरे में झाँक कर देखा--रतिया मुसकराकर पुष्पा से बातें कर रही थी। उसके हाव-भाव से प्रसन्नता छिटक रही थी। बेटी को खुश देख कर वह भी मुसकरा उठी मगर सिर धुनती हुई मन-ही-मन बोली-- "घोर कलियुग आ गया भाई, घोर कलियुग ! लाज-लिहाज कुछ न ! भतार को देखा नहीं कि भतरसट्टू बन गयी ! नया जमाना, नया रिवाज ! एक हमलोग थे ! शादी के कई माह बाद तक मरद का चेहरा भी न देखा था।"

अचानक उसे हँसी आ गयी और शरमाती हुई उसने अपनी नजरें झुका लीं। बात यह थी कि वर्षों बीती एक घटना उसे याद आ गयी थी। एक बार उसने इसी बात का बखान अपनी ब्याही ननद से किया था तो उन्होंने उसकी कितनी हँसी उड़ायी थी ! उसकी ननद ने हँसकर पूछा था--"अच्छा भौजी ! एक बात बताईं कि आपके ब्याह का साल भी न लगा कि रतिया का जनम हो गया था---तब बिना देखे ही भइया के साथ रहीं का ? कोई दोसर तो नहीं था न ?"

बस ! वहाँ पर बैठीं उसकी सास,जेठानी-देवरानी लोट-लोट कर हँसने लगी थीं। वह इतनी लज्जित हुई कि उसकी बोलती बंद हो गयी। इतना ही नहीं, जब भी वह रतिया के पास रहतीं, उसकी ननद मजाक से रतिया को बड़े ध्यान से देखती हुई कहतीं---"देखें ! इसका चेहरा भइया से कुछ मिलता है कि नहीं !" जब-तक वह ससुराल न गयीं, इस बात को लेकर मजाक उड़ाती रहीं।

बदरी पूरी तन्मयता से सभाजन में लगा था। अंदर आकर बोला---"हो भौजी ! मुखिया जी, घोल्टूआ के बाबू और बीरेन्दर चाचा भी आये हैं, चाय-शरबत ----कुछ बनाईं (बनाएँ) ! हाँ, नीमन (अच्छा) गिलास-कप है कि न ? कहें तो चौधरी जी के घर से ला दें ?"

"न-न, सब है। बस, तनिक देर में आकर शरबत ले जाएँ।" फुरती दिखाती हुई कमरे में झाँक कर वह बोली --"गे रतिया ! जा, सात-आठ गिलास शरबत बना दे। बाबू जी भी आते ही होंगे।"

"एक गिलास हमें भी देना रतिया ! अच्छी खबर सुनायी हूँ, मुँह मीठा न करवाओगी ?" हँसकर पुष्पा ने कहा। रतिया शरमाती हुई उठी और झेंपकर माँ के सामने से रसोई घर की ओर चल दी।

कुछ देर बाद बदरी आया और फुसफुसाकर बोला---"बाजार से कुछ मँगाना है, तो मँगा लीं।" रतिया की अम्मा कुछ सोचने लगी।

"यही---मर-मिठाई, फल-तरकारी ?"

"अरे न-न ! रतिया के बाबू जी तो अब आ ही रहे होंगे। लें, शरबत ले जाएँ। एक गिलास अपने भी पी लें।"

दलान में लोग मेहमान जी को घेरे हुए थे। कहीं और न बैठकर बुढ़ऊ लोग भी चिलम पीते हुए गंभीर मुद्रा में वहीं बैठ गये। तरह-तरह के बेतुके सवाल !

सवालों का जवाब देते-देते मेहमान जी ऊब गये थे। कोई पूछता---"का हो मेहमान ! घरारी पर के खेतवा में उपजा होत है न ?"

"वाहियात लोग ! भुच्चड़-गँवार ! माथा चाट कर रख दिया !" मन-ही-मन मेहमान जी खीझ रहे थे लेकिन सभ्यता दिखाते हुए धीरे -से बोले--"हाँ, अच्छी उपजा होती है।"

"अभी का रोपल है ?"

इच्छा हुई कि पूछने वाले को पटक कर पीट दें।

मन-ही मन उन्होंने चिढ़ कर स्वयं से कहा---"इन जाहिलों के बीच कहाँ फँस गया यार ! बेतुके सवाल ! अरे मुझे क्या पता भाई ! क्या इन्हें पता नहीं है कि मैं शहर में नौकरी करता हूँ, गाँव में खेती-बारी नहीं करता ?" वे झुँझला उठे मगर क्या करते ! गुस्से को पी कर सभ्य तरीके से बोले---"पता नहीं, मैं तो नौकरी के कारण शहर में रहता हूँ।"

"और माल-जार, गाय-गोरू ? कोन देख हथुन ?" (कौन देखते हैं ?)

"जन-मजदूर।" उन्होंने एक झटके से जवाब दिया जैसे कोई कड़वी दवा एक ही घूँट में पी ली हो।

"जन-मजदूर ? अ बाबू ? उ का करत हैं ? गाँवे पर हैं न ?"

"त कहाँ रहेंगे ? देश की सीमा पर ? बंदूक लेकर ? किसान हैं तो खेती-बारी के लिए गाँव में ही रहेंगे न ?--उनकी इच्छा हुई कि उनके सवालों के बदले यही सब सवाल वे उन लोग पर दाग दें---मगर ! ससुराल में मर्यादा ! मन-ही-मन कुढ़ रहे थे किंतु होंठों पर मुसकराहट थी। उनके प्रश्नों के जवाब वे देते, इसके पहले ही रतिया के बाबू जी आ गये। प्रणाम-पाती हुआ और फिर नपे-तुले शब्दों में वे अपने दामाद और उनके घर-परिवार का हाल-समाचार लेने लगे।

रतिया की अम्मा दरवाजे के ओट से झाँक रही थी कि कब उसके बाबू जी इधर देखें और वह इशारे से उन्हें अंदर बुलाए, मगर वे अपने दामाद से बातें करने में लीन थे। अंततः एक बच्चा पर नजर पड़ते ही वह उसे इशारे से अंदर बुलाती हुई धीरे-से बोली---"दलान में दादा बैठे हैं न, जा उन्हें बुला लाओ। कहना कि दादी बुला रही है, लेकिन धीरे-से उन्हें ही कहना, कोई सुने न।"

उस बच्चे के कहने पर वे जैसे ही अंदर आये, वह बरस पड़ी--"का जी ! वहाँ सट्टा लग गया था का ? घर में मेहमान आए हैं त आकर पूछना चाहिए न कि दूध-फल, साग-सब्जी घर में है कि नहीं ? बैठ गये, बस बैठ गये !"

"हाँ-हाँ, ध्यान है भाई ! रास्ते में ही था कि भुनेसरा बताया कि घरे मेहमान आयल हैं इसलिए उसे कह दिया कि मंगला हाट से मछरी (मछली) लेते आये। रात के भोजन में मछरी-भात बना देना और अभी----बूँट का सतूआ (सत्तू) पीसल है न ?"

"हाँ है !" कुछ उखड़े मन से रतिया की अम्मा बोली।

"तो ठीक है, अभी नास्ता में सतूआ भरल पूरी बना दो--- दही, चटनी---और इ डब्बा पकड़ो, साथ में मिठाई दे देना।" रतिया के बाबू जी जाने के लिए मुड़े ही थे कि उसकी अम्मा खीझ कर धीरे-से बोली---"बाकी इ कौन रिवाज है भई ! गौना हुआ भी न, और ससुराल दरवाजा आ गये !"

"तीन दिनों की छुट्टी थी न, इसलिए नौकरी पर से यहीं चले आये।"

"काहे ? माय के घर का रास्ता भूल गये का, जो जगहँसाई करवाने यहाँ आ गये ?"

रतिया के बाबू जी झल्लाकर बोले--"अरे काहे की जगहँसाई ? अब कोई नहीं सोचता। अपने घर आने-जाने में ही दो दिन बीत जाते, सो यहीं चले

आये !" उखड़े मन से वे भनभनाते जा रहे थे --"बिना मतलब का टेंसन ! ना बात, तो हाँ बात !" अचानक वे रुक कर अपनी पत्नी को धीरे-से बोले---"ये सब नियम तुम्हारे मायके में ही चलता है। वहीं ज्यादा जगहँसाई होती है ! समझी कि नहीं ? भूल गयी का अपनी बात ? ब्याह तय होने के बाद तुम्हें देखने के लिए कितनी दूरी पर मैं खड़ा था ? चंदपुरा से बगहा की दूरी कितनी है ? बस पर चढ़ कर आया था कि जिससे मेरा ब्याह हो रहा है, उसे देख तो लूँ ! लेकिन--ससुर के नाती ! पूरा गाँव ही तुम्हारे रिश्तेदार थे न ! सालों ने पकड़ कर पीटा-सो-पीटा, शादी भी तोड़ दी, यह कहकर कि लड़का लुच्चा-लफंगा है। याद है न ? बाबू जी को बुलाया गया, पंचायत बैठी, सात पुश्त पीछे का ब्योरा लिया गया कि किसी पुश्त में कोई लुच्चा-लफंगा तो न था, जिसका दुर्गुण मेरे अंदर आ गया हो ! बाप- रे- बाप ! वानर सेना ! लूझ गये थे सब-के-सब ! कितना पीटा था ! इतना ही नहीं, इस गुनाह के लिए बाबू जी से भी कम न पिटाया था ! गाँव-घर की सारी भौजाई मजाक उड़ायीं अलग ! बात का बतंगर बन गया था ! शौक ही लगा रह गया कि मौर पहनकर ब्याहने जाता और बारात में दोस्त नाचते ! आज लतिया दिया, दो दिन बाद मंदिर में फेरे लगवा दिये ! आग लगे अइसन बिआह में !"

"आप भी न ! बीस-बाईस साल पहले का पोथा लेकर बैठ गये ! अच्छा, एक बात पूछूँ ?" रतिया के बाबू जी बिना कुछ बोले विकृत मुँह बनाकर अपनी पत्नी को देखने लगे। उसने मुसकराकर पूछा--- "वैसे, उस वक्त मैं कैसी लगी थी ?"

उनके चेहरे का भाव धीरे-धीरे बदलने लगा। चिढ़ के स्थान पर आँखों में मीठी यादों की अनुभूति प्लावित होने लगी। मुसकराते हुए उन्होंने कहा--"जाओ, जरा जल्दी नाश्ता बना दो।"

सूर्यास्त हो चुका था। दलान के बाद अब मेहमान जी आँगन में पधारे ! यहाँ वे अपने-आप को सहज महसूस कर रहे थे। गाँव-भर की सालिओं और सरहजों के बीच वे घिरे थे। इनके प्रश्न ऊबाऊ न थे। कोकिल कंठ से निकले भद्दे-से-भद्दे मजाक भी इन्हें मीठे लग रहे थे। वे बोलतीं और ये नपे-तुले शब्दों में या तो जवाब देते या मुसकराकर रह जाते। नजरें नीची थीं, लेकिन चोर नजरों से कमरे के दरवाजे की ओर भी देख लिया करते, जिसकी ओट में रतिया छिप-छिपकर उन्हें देख रही थी।

रतिया की अम्मा रसोई में लगी थी। लाठी टेकती बदरी की दादी भी मेहमान से मिलने आ गयी। गोर-लगाई के बाद चार बेटों का आशीर्वाद देकर रतिया की अम्मा के पास रसोई घर में आ कर धीरे-से कराहती हुई बैठ गयी।

"का पकते हई कनिमा (क्या पक रहा है बहू) ?" अपने पैरों को सहलाती हुई मरियल आवाज में वह पूछी।

"मछरी-भात।" रतिया की अम्मा का संक्षिप्त जवाब था। फिर दोनों चुप ! चुप्पी तोड़ती हुई रतिया की अम्मा बोली---"बाकी यह ठीक न हुआ चाची ! बताएँ ! मेहमान के घर में केकरो (किसी को) पता भी न है और ये यहाँ आ गये ! अरे ! चार महीना बाद ही न गौना था ! तब मरजादी के साथ आते ! दोनों घर का मान रह जाता ! का चाची ? गलत तो न बोली न ?"

"इ बात तो मेहमान के न सोचे के चाही !" अफसोस जाहिर करती हुई वह धीरे से बोली, किंतु तुरत ही हाथ झटकाती हुई भन्नायी---"जाने दे, छोड़ ! यही जमाना है, कोई का करेगा ! दो दिन रहेंगे और फिर चल जाएँगे ! तू तो संदेश देकर न बुलवायी ? जाने मेहमान और जाने उनकर घर-परिवार !"

"बात इ है चाची कि दो दिन तक मेहमान तो रहकर चले जाएँगे, लेकिन कहीं ऊँच-नीच हुआ तो ससुराल जाएगी उल्टी करते ? पेट लेकर ? का बताएगी सास को ?"

"अब जो होतई (होगा), सो होतई ! भगवान की मरजी ! तू चिंता न कर ।" बड़े इतमीनान से बदरी की दादी बोली।

रात को भोजन के बाद, दलान में दो बिस्तर लगाती हुई रतिया की अम्मा अपने पति से बोली---"यहीं, मेहमान के पास दलान में आप सो जाएँ।"

उन्होंने कुछ न कहा मगर एक वक्र दृष्टि अपनी पत्नी पर डाल दी। पति के हाव-भाव से वह खीझ उठी। झल्ला कर धीरे-से बोली--"ऐसे बघुआ कर काहे देख रहे हैं जी ? कोई नया नियम लगा रही हूँ का ? इ तो उनकर ससुराल ही है, बाकी अपने ? भूल गये का ? गौना के बाद जब ससुराल में थी तब आप अपने घर में रहकर भी दलान में सोते थे ?" अचानक उसने अपना मुँह आँचल से ढँक लिया और शरमाती हुई अंदर चली गयी।

दो दिनों तक मेहमान जी का भव्य स्वागत हुआ और फिर वे वापस नौकरी पर चले गये। सप्ताह भी न बीता कि रतिया के ससुराल से संदेश आया--- "दस दिनों के बाद, यानी बैसाख पुनिया (पूर्णमासी) को गौना करा दें, क्योंकि अमरेंदर की माँ की तबीयत खराब है और घर देखने वाला कोई नहीं। चूँकि उसे छुट्टी नहीं है, इसलिए उसके बाबू जी विदा कराने जा रहे हैं। उन्हीं के साथ दुलहिन को विदा कर दें।"

गौने की तैयारी शुरू हो गयी। पलंग, बिस्तर-रजाई, ट्रंक, कपड़े आदि की खरीदारी होने लगी। दलान पर हलवाई बैठाए गये। नौ टोकरे खाजा, गाजा, माठ और लड्डू बनकर तैयार हुए। गाँव के पुरुष लोग इन तैयारियों की देख-रेख में लगे थे और महिलाएँ, खासकर रतिया की सहेलियों के आने-जाने का ताँता लगा हुआ था। उन्हें देखते ही रतिया उनसे गले लगकर फूट-फूटकर रोती। रतिया की अम्मा की आँखें भी सूज गयीं। अंततः पति के अनुपस्थिति में ही रतिया का गौना हुआ।

वह अपने ससुर के साथ ससुराल आ गयी और पूर्ण तन्मयता के साथ अपनी जिम्मेवारियों के निर्वाह में लग गयी। धीरे-धीरे उसकी बीमार सास स्वस्थ होने लगी मगर इसका स्वास्थ्य गिरने लगा। उसे यहाँ आये हुए दो महीने ही बीते थे। पहले ठीक थी। स्वामिनी बनी वह प्रसन्न थी। स्वायत्ता उसके हाव-भाव से टपकती थी मगर अब ! चेहरे पर मलिनता छाने लगी, प्रसन्न न रहकर परेशान रहने लगी। घर का काम पड़ा रहता और वह बिना खाये-पिये ही सोयी रहती। उसे इस स्थिति में देखकर रतिया की चचेरी सास बोली---"बहुरिया पेट से लगती है।"

"धत् ! पेट से कैसे रहेगी ?" बात काटती हुई उसकी सास बोली---"आठ-नौ महीने पहले ही न ब्याह हुआ था ! उस समय से अगर पेट से रहती तो अब-तक पेट निकल न गया होता ? पेट क्या ! हो सकता था, गोद भरी रहती।"

"हाँ,लेकिन---सुस्ती, भूख न लगना--और---उल्टी---इ सब लच्छन (लक्षण) तो-----!"

"हाँ, ठीक है ! लेकिन यह कैसे हो सकता है ?"

"हाँ ! इ भी ठीक है ! फिर ? हुआ का है इसे ?"

कमरे में लेटी-लेटी रतिया सारी बातें सुन रही थी, मगर बोले तो क्या बोले ! शरम और लिहाजवश चुप थी।

रतिया की सास बहुत चिंतित हो उठी। बड़ी सास शंकित होकर बोली---"किसी की नजर तो न लग गयी !"

हाँ--हाँ, यही बात है !" उसकी सास चौंक उठी---"तेतरी की दादी बहुरिया को देखने आयी थी। कौन नहीं जानता कि वह डायन है ! इसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दी थी डैनी !"

"आयँ ! इ बात है !" आँखें फाड़-फाड़ कर रतिया की बड़ी सास अपनी देवरानी को पलभर देखती रही और फिर उसे कोसने लगी-----"तू भी न ! जरूरी था बहुरिया से गोर लगवाना ? जानबूझ कर खूँटा से टकराने गयी थी ! चोट लगने पर झखो अब !"

"बाप रे ! अब का करें !" सिर पीटती हुई वह बोली---"गोर न लगवाती तो गाँव भर में शिकायत ! लगवायी तो आफत ! साँप-छछूँदर वाला तो हाल था ! क्या करते !"

"अब सुजान ओझा के पास चलो और का !" झल्लाकर रतिया की बड़ी सास अपनी देवरानी से बोली । जाने के लिए दोनों उठी ही थी कि रतिया घबराकर बिस्तर से उठी और दरवाजे की ओट तक दौड़ी आयी किंतु----! चुप !

रतिया शरम के कारण चुप थी । ओझा जी अपने रोजगार में लगे थे---तन्त्र-मंत्र--राख---! लेकिन इसके बाद भी रतिया के स्वास्थ्य में सुधार न देखकर उन्होंने चिंतित होकर कहा---"हो चाची ! बहुरिया को भूत धरले है---- !"

"आयँ !" उसकी सास का कलेजा मुँह को आ गया । फटी-फटी आँखों से ओझा जी को देखती हुई बोली---"बाकी (लेकिन) बाहर तो यह निकलती नहीं है !"

"न-न ! भूत बहुरिया के मायके का है, इसके साथ आया है ।" ओझा जी बड़े इतमीनान से बोले ।

रतिया का पारा चढ़ गया । मन-ही-मन वह ओझा जी को कोसने लगी---"बताओ ! दरद है सोहर के लिए, तो देने लगे हाजमोला ! और भूत ! यहीं भूत-प्रेत-चुड़ैल-डायन है ! मेरे गाँव में देवता का बास है, देवता का ! जगह-जगह मंदिर ! जहाँ देखो, वहीं पीपल का पेड़ !"

"तब ?" भयभीत होकर उसकी सास पूछी।

"तब का ? भूत भगाने का इंतजाम करें और का ! पसेरी भर धान, पाव भर मखाना, दो किलो धूपबत्ती- गुग्गुल, एक किलो गाय का धी, पावभर अरवा चावल, एक मीटर लाल कपड़ा, काजल, और--और धोती-गमछा----इतना तो जरूरी है। बाकी जितनी श्रद्धा, उतनी दक्षिणा !"

यानी भूत की विदाई के साथ-साथ अपनी विदाई के लिए भी वे लिस्ट थमाकर जाते-जाते बोले---"चार दिन बाद अमावस है, उसी दिन भूत भगाऊँगा।" रतिया की सास हतप्रभ हो सिर पकड़ कर जमीन पर बैठी रही। रतिया से रहा न गया। अपनी बात कहने के लिए वह सास के सामने खड़ी ही हुई कि उसे चक्कर आ गया। हड़बड़ाकर उसे थामती हुई उसकी सास रोनी सूरत बनाकर बोली--"बाप रे ! भूतवा को मालूम हो गया है कि ओकरा (उसे) भगावे ला घर में ओझा आया है !"

रतिया के ससुर जी अपनी भांजी की शादी के सिलसिले में आरा गये हुए थे। रतिया की सास अपनी बहुरिया की हालत देख चिंतित भी थी और भयभीत भी, इसलिए उसके कहने पर ओझा जी दलान पर डेरा डालकर बैठ गये। फिर क्या था ! तर माल उड़ाने लगे ! घी से सराबोर रोटियाँ, तड़के लगे मसाले वाली दाल, किलो भर दूघ, ऊपर से दही-मट्ठा अलग ! भात है तो शुद्धिकरण के लिए कटोरी-भर घी चाहिए ही ! वो भी बचका-पापड़ के बिना हलक के नीचे उतरते ही नहीं। मुफ्त का अपना माल उड़ाते देख रतिया से रहा न गया। शरम को किनारे रख अपनी सास से बोली---"अम्मा जी ! ओझा जी को बेवजह कष्ट हो रहा है। मुझे किसी भूत ने नहीं धरा, बल्कि---बल्कि मेरे पैर भारी लगते हैं। मुझे लगता है कि मैं पेट से हूँ।"

"चुप पगली !" प्यार से उसे झिड़कती हुई वह बोली ---"पेट से कोई ऐसे ही रहती है का ? तार या कटहर का कोआ खाकर ?"

रतिया क्या बताती ! वह चुप हो गयी। उसे अब समझ आया कि उसके पति के अचानक आने पर उसकी माँ को आपत्ति क्यों हुई थी। उस वक्त वह अपनी अम्मा की बातों से खीझ रही थी लेकिन अब---!

अब अपने पति को मन-ही-मन कोस रही थी---"हे भगवान ! खुद तो यहाँ हैं नहीं, मैं किसी से क्या और कैसे बोलूँ ! कहाँ फँस गयी !"

एक दिन ओझा जी दलान में बैठे थे कि रतिया पर उनकी नजर पड़ी। उसकी ख़ूबसूरती देख वे चौंक उठे---"वाह ! इतनी सुंदर ! शरीर पर इतनी कोमलता कि लगता ही नहीं है कि कभी बरतन-रसोई की हो ! सरसों के फूल में गुलाब की खुशबू !"

अमावस में अभी दो दिन बाकी थे। ओझा जी यहीं बैठकर मुफ्त में पकवान का मजा ले रहे थे। न कहीं आना, न कहीं जाना ! समय काटने के लिए चिलम सुलगाते, आँखें बंदकर आनंदानुभूति के साथ कश लेते और धुआँ छोड़ते हुए चोर नजर से आँगन में जरूर झाँकते, मगर रतिया नहीं दिखती। देखते-देखते अमावस की रात आ गयी। आँगन में धूप-अगरबत्ती जलाकर ओझा जी बैठ गये। लाल कपड़े पर काजल लगाकर रखा और उस पर जल छींटा। फिर तंत्र-मंत्र का जाप शुरू हुआ। रतिया की सास अपनी देवरानी-जेठानी और तीन-चार अन्य पड़ोसिन के साथ दम साधे बैठी थीं। ओझा जी कुछ पल विराम लेने के लिए रुके कि रतिया की सास बीच में बोल पड़ी---"मखाना, घी-दूध और पसेरी-भर चाउर (चावल) ? इ सब तो बचा ही है ?"

"लगेंगे--लगेंगे ! सब लगेंगे ! भूत की विदाई के बाद चौर में सब को गाड़ना है।"-- इतमीनान से ओझा जी समझाने लगे।

"वही सोचे कि ओझा जी भूल कइसे गये !" राहत की साँस लेती हुई वह बोली।

"अब बहुरिया को बुलाएँ।" आँखें बंद करते हुए उन्होंने फिर से मंत्रजाप शुरू कर दिये। अपनी सास के साथ घूँघट डाली रतिया वहाँ बेमन से आयी, लेकिन धुआँ और गुग्गुल-अगरबती की महक को सहन न कर सकी इसलिए अचानक वहाँ से उठी और तेज कदमों से कमरे में चली गयी।

"देखो ! भूतवा जाना नहीं चाहता है ! लेकिन---हम भी सुजान ओझा हैं !" बड़े गर्व से ओझा जी बोले।

वहाँ पर बैठी महिलाएँ भयभीत होकर ओझा जी की बात सुनती हुई कमरे में झाँक कर रतिया को देखने लगीं।

"तू डाले-डाल, हम पाते-पात ! चुनौती देते हुए वे उठे और रतिया की सास से बोले---"कमरे में ही जाकर भूत भगाता हूँ, कोई आने न पाये, नहीं तो---! अनर्थ हो जाएगा--अनर्थ !" ओझा जी झाड़ू लेकर अंदर गये और दरवाजा बंद कर दिया। कमरे में ओझा जी को अचानक आये देखकर रतिया घूँघट निकालकर खड़ी हो गयी। वह कुछ कहती कि इसके पहले उसके चेहरे पर से घूँघट हटते हुए मुसकराकर ओझा जी बोले---"इतना सुंदर चेहरा और सुकुमार देह देख कर भूत तो धरेगा ही !"

रतिया ने अंगार उगलती आँखों से उन्हें देखा। ओझाजी के होंठों पर छायी मुसकान गायब हो गयी। वे सकपका गये। फिर क्या था ! रतिया ने उनके हाथ से झाड़ू छीना और दे-दना-दन ! मार झाड़ू- मार झाड़ू ! हौंक कर रख दिया ओझा जी को ! झाड़ू से मार खाने की आवाज सुनकर उसकी सास आँगन में लोट-लोटकर छाती पीटती हुई चीख रही थी---"ओझा जी ! भूतवे को चोट लगना चाहिए, हम्मर बहुरिया को कुछ न होना चाहिए ! बाप रे ! कौन चक्कर में पड़ गये हम सब !" अन्य महिलाएँ उसे सँभालती हुई ढाढस बँधा रही थीं। करीब दस मिनट तक पिटाई के बाद, बड़ी मुश्किल से ओझा जी दरवाजा खोलकर जान बचाते हुए कमरे से बाहर भागे। पीछे से रतिया

हाथ में झाड़ू लिये चीखती निकली---"निपूता ! कमीना ! तोरे माय-बहिन को भूत धरे ! ओझा बनकर छिनरपन करे चला है ! कुल ओझागीरी निकाली न ! मुँहझौंसा ! पहचानता ही नहीं ! अरे ! चंदपुरा की बेटी हैं ! भूत हमें धरेगा ? वही हमें देखकर भागेगा कि कहीं हम ही न उसे धर लें ! लंपट-लुच्चा !" हाथ में झाड़ू लिये रतिया जब बाहर निकली, सभी उसे भयभीत होकर देखने लगीं। वह गुस्से से काँप रही थी। अपने-आप को संयमित करती हुई उसने अपने सिर पर आँचल रखा और अपनी आँखें नीची करती हुई धीरे-से बोली---"अम्मा जी, किसी भूत या डायन का प्रकोप मुझ पर नहीं है I सच में, हम पेट से हैं।"

"आयँ ! कब से ?" उसकी सास चौंक उठी।

"दो-ढाई महीने पहले से।" उसका कँपकँपाता बदन सिहर उठा। गुस्से की लाली पर शर्म की लाली हावी हो गयी। जब उसने सारी बातें बतायीं तो आँगन में बैठी औरतें मुँह ढँक कर हँसने लगीं। रतिया की सास को प्यार से झिड़कती हुई बोली ----"धत् अमरेंदरा-माय ! तू भी न ! हद कर दी ! बच्चा बोले फूआ-फूआ, तो चल गयी डंडा लेकर खेत में कि सियार बोल रहा है----हुआँ-हुआँ ! अब चलो ! हरदी का हलवा जल्दी खिलाना !"

रतिया की सास का चेहरा खुशी से खिल उठा। किंतु तुरत ही अपनी बहू को बोली---"बाकी ओझा जी पर बरसना ठीक न था बहुरिया ! वो भी झाड़ू और लात-गाली से।"

"लात-गाली ! भाग गया मुँहझौंसा ! पकड़ाए न, तब यहीं गाड़ दें !" ओझा जी की करतूत सुनने के बाद रतिया की सास अपने -आप को अपमानित महसूस कर गुस्से में बोली-----"हरदी का ? अछवानी-पंचमेवा का हलवा खिलाऊँगी, गाँव-भर में लड्डू बँटवाऊँगी ! वो भी घी में बने ! लेकिन---उ ओझवा को का करें ?"

"का करें क्या ! पंच को सौंपो ! कुल ओझई में आग लगा देंगे सब !" रतिया की बड़ी सास कुछ उत्तेजित होकर बोली।

"लेकिन इज्जत तो हमारी जलेगी न ?" उसकी सास बोली।

"सही में ! और--- ओझवा का यह गुनाह छोटा-मोटा न है ! पंच- परमेश्वर का फैसला तो बाद में होगा, पहले तो नर नारायण ही बढ़िया से ठोक देंगे !" रतिया की छोटी सास बोली।

"अरे ठोकाएगा तब न, जब जिंदा रहेगा ? ओक्कर (उसकी) करतूत सुनकर अमरेन्दरा के बाबू जी और दोनों चच्चा उसको जान से पहले ही मार देंगे।"

"हाँ ! फिर कौन जाने ! पुलिस-केस-जेल--- !" उसकी छोटी सास आशंकित होकर बोली।

"न-न ! ना भई ! यह तो वही बात होगी--"पुआल में चले आग लगाने, जले घर- खलिहान ! छोड़ मुँहझौंसा को। भगवान देख लेंगे !

अब उससे ओझई न करवाएँगे बस !"

लेकिन यह बात गाँव की महिलाओं से छिपी न थी। सभी जानती थीं लेकिन ओझा जी को लेकर गाँव में कोई बड़ा हंगामा या मार-काट न हो, इसलिए सभी चुप थीं। हाँ, मगर कोई भी महिला उन्हें कभी भी, कहीं भी देखती तो हँसकर जरूर पूछती---"का ओझा जी ! बहुरिया पर के भूत को काहे न भगाये ? भूतवे (भूत ने ही) झाड़ू-पर-झाड़ू हौंक कर आप को भगा दिया ! काहे हो ?"

ओझा जी सकपका कर कहते---"अरे का कहें, भूत जबरजस्त था !" लेकिन जल्द ही वे जान गये कि गाँव की औरतें उनका मजाक उड़ा रही हैं। तब वे उनसे नजरें छिपाये चलते और मरदों से मुँह, क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं उनका भंडा फूट न जाए--और तब------!"

जिंदगी का मोल

फिर से गौरी का संदेश आया--"बहुत दिन हो गये हैं माँ, तुमसे मिलने की इच्छा है। स्वयं नहीं आ सकती क्योंकि स्वयं आने से नइहर की जगहँसाई होगी न, इसलिए हमें बुला लो। अब तो तुम्हारी नतनी (नातिन) भी दो साल की हो गयी है।"

उसकी माँ के हृदय में फिर से एक टीस उभर आयी। आँखों में निराशा छा गयी। हृदय में ममता हिलोरे लेने लगी जिसका दर्द वह सह नहीं पा रही थी। वह फूट-फूटकर रो पड़ी। मन भर रो लेने के बाद वह अपने बेटे बिंदेसर के सामने खड़ी हो गयी। उसकी पत्नी अपनी सास को देखकर समझ गयी कि फिर से वही आलाप शुरू होने वाला है--"गौरी को विदा कराकर ले आओ, उसे देखे बहुत दिन हो गये हैं।" वह रसोईघर में चली गयी मगर कान बाहर बरामदे में लगे थे। माँ को चुपचाप खड़ी देख बिंदेसर ने बड़े रूखे स्वर में पूछा--"क्या--?"

सहमी हुई वह बोली--"गौरी का संदेश फिर से आया है।"

"अरे तो क्या करूँ ? मटिया जाओ।" उसकी माँ बेबसी भरी आँखों से उसे देखती रही। बिंदेसर के चेहरे पर विकृत-सा भाव छा गया। खीझ कर बोला--"गौरी के साथ पाहुन भी आगये तो ? पहुनाई में ही लगे रहो ! और फिर, अब तो उसकी एक बेटी भी है। खिलाने के लिए चलो कोई बात नहीं, लेकिन विदागरी (विदाई) के समय ? कपड़ा-लत्ता, मर-मिठाई, सामान-सौगात ! कहाँ से करूँगा ?"

"बेटी को देना बढ़म्मन (ब्राह्मण) को दान देने के बराबर होता है रे !

इससे कुछ घटेगा नहीं, भगवान बरकत ही देंगे। और--और तू तो भाई है, तुम्हारे दिल में उसके लिए थोड़ा भी प्यार नहीं ?"

"कैसा प्यार ? तू तो उसे हम्मर (मेरा) गोतिया बनाकर रख चुकी हो।---बड़ा न---! बात करने चली है !"

"का कहा रे ?" बिंदेसर की माँ को झटका लगा।

"ठीक ही तो कह रहा हूँ ! आधी जमीन उसके खातिर बेचने वाली तू ही हो न ? हिस्सा में भागीदार बनी तो गोतिया ही हुई न ? सुनकर बिख (विष) काहे लगा ? बताओ ?"

"बाप के मरने के बाद उसकी शादी की जिम्मेवारी तुम्हारी थी कि नहीं ? आयँ ? बोल ! तूने मुँह मोड़ लिया, तो का करती रे ? गौरिया को भी मैंने ही जनम दी न, जैसे तुम्हें जनम दिया ?"

"हाँ तो ठीक है ! बँटवारा हो गया न ? अब जैसे मेरे पास रहती हो, वैसे उसके पास भी रहो-- तब न जानें !"

"तुम्हारी जगहँसाई न होगी ?"

कुछ देर वह चुप रहा, फिर इतमीनान से बोला--"देखो ! साफ-साफ कह देता हूँ--तुम्हारी बेटी है, तुमसे मिलने आएगी तो खिला दूँगा, कुकर्मी नहीं हूँ लेकिन मैं उसे लेने न जाऊँगा, मेरे पास पैसा-कौड़ी नहीं है और---यदि स्वयं आ गयी, तो विदागरी में कुछ दूँगा नहीं। हाँ, तुम्हारे पास है, तो निकालो---सोचूँगा। बस।"

बिंदेसर की माँ खड़ी रहकर चुपचाप सुनती रही। मन-ही-मन वह बोली--"तू कुकर्मी ही है रे ! जोरू के आँचल से ऐसा बँधा कि बहन की चिंता न पहले थी, न अब। और मेरा क्या ! अपने-आप को ज़िंदा समझी ही कब हूँ ! पुरुख

(पति) गये, मेरा मन ही मर गया। केवल प्राण रहे, वो भी तुमलोग को पालने के लिए ही।"

पति की बातें सुनकर बिंदेसर की पत्नी का जी जुड़ा गया। गंभीर बनने की कोशिश कर रही थी लेकिन प्रसन्नता उसके रोम-रोम से झाँक रही थी। बाहर निकलकर बोली---"रह-रहकर इन्हें क्यों बोलवाती हैं ? दिनभर मेहनत करते हैं तो चैन से दो रोटी तो खाने दें ! बेटी को देने के पहले न सोचना चाहिए था कि रहना तो बेटा के पास ही है न---- इसलिए बेटा का दिल न दुखाएँ ?----- शांति से बुढ़ापा काटना है तो इनसे पंगा न लें ?"

"कैसा पंगा ? आयँ ?" बहू की ओर मुड़कर, उसे डपटती हुई वह बोली--"बेटी परायी होती है का ? जिस पेट में बेटा पलता है, उसी में न बेटी पलती है ? उसका ब्याह न करती ? उसकी जरूरत का सामान न देती ? न देती तो ससुराल में कुछ इज्जत रहती उसकी ? वैसे भी, अखाड़े में कूदी मैं, और जीत की बधाई तो तुमलोग को ही मिली न ? सब यही कहते हैं कि बाप के न रहने पर भी भाई-भौजाई ने कोई कमी न की।

"ऐसी बात नहीं है माँ !" बहू ने बात काटी--"किस्मत होनी चाहिए। किसी के देने से ही सबकुछ नहीं हो जाता। मेरे भी बाबू जी न थे, मगर मेरे ब्याह के लिए माँ ने भाइयों से छीनकर खेत न बेचा। और आज देखें--- मायके के रास्ते में भाई लोग मेरे लिए फूल बिछाए रहते हैं ! इसीलिए न कि उनका हक मैंने नहीं छीना ?"

"सही कहती हो बहुरिया ! किस्मत अच्छी होनी चाहिए, लेकिन सबकी किस्मत तुम्हारी तरह नहीं है न कि मेरी जैसी सास मिले जो गोबर को भी गौर-गणेश बनाकर पूजे ? भिखारिन की तरह आयी बहू के शरीर पर अपना गहने लाद दे ? पायल, दो तोले चाँदी की यह मोटी सिकड़ी ! पहनकर आज घुघुआ रानी बनकर जो उड़ रही हो--- सब हमरे है न ? बेटी के लिए न रखी,

समझी ? और---और सबसे बड़ी किस्मत की बात तो यह है कि तुम्हें मरद भी मिला 'मौगा' ! जो कहोगी--वही सुनेगा। रात को दिन कहोगी तो चाँद देखकर कुकर्मी बोलेगा---हाँ-हाँ ! दिन ही है---बाकी (केवल) सूरज में आज गरमी नहीं है। दिन को रात कहोगी तब बोलेगा---ठीक ही कह रही हो ! रात है बाकी चाँद आज ताप उगल रहा है। तुमरी जैसी किस्मत वाली कोई है का ? आयँ ? माउगसट्टू भी एक नंबर का ! खाम (खाऊँगी) पिया जी खाम-----खा ला धनिया (युवती,पत्नी) करेजा (कलेजा)। बइठम (बैठूँगी) पिया जी बइठम---बइठ (बैठो) धनिया माथा !" (माथा पर बैठो)

"सुन रहे हैं न ?" अपमान और गुस्से से काँपती हुई बहुरिया चीखी--"मैं भिखारिन की तरह आयी थी ? और-तो-और, आप 'मौगा' हैं ?"

"बुढ़िया !" बिंदेसर चीखते हुए उठा और उसे धकिया दिया। एक सन्नाटा छा गया ! बिंदेसर की माँ आश्चर्य चकित थी और बिंदेसर शायद भयभीत था क्योंकि झगड़े को सुनने के लिए गाँव के कुछ लोग वहाँ उपस्थित थे। सोमिया की नानी, जो दो-दो बेटियों की माँ थी और बेटे को जन्म न देने के अपराध में अपना जीवन मायके में ही बिताती हुई जीवन के अंतिम पड़ाव पर आ गयी थी---उसे धिक्कारती हुई बोली--- "रे-रे बिंदेसरा ! मेहरारू (बीवी) के चलते माय (माँ) पर हाथ उठाता है रे ! लंगटे (नंगे) घूमता था, जब बाप दुनिया छोड़कर गये थे ! तब यही न पाल-पोसकर हट्टा-कट्टा बनायी ? और आज माय (माँ) पर ताकत दिखा रहा है ? जा रे कुकर्मी ! भगवान भी माफ न करेंगे !"

सहानुभूति का बोझ हृदय पर पड़ा नहीं कि दर्द आँसू बन बह निकले। बिंदेसर की माँ दहाड़ मारकर रोती हुई विलाप करने लगी---"हे फूआ ! यही बेटा के लिए ही न तोहरा ला (आपके लिए) ससुराल का दरवाजा बंद हुआ है ? आयँ ? बेटा न रहने पर ससुराल वाले घर से निकाल दे और बेटा रहने

पर बेटा ही उसे घर से निकाल दे ! बताव ! (बताएँ) का करल जाए ? (क्या किया जाए ?)

"का कहल जाए ! (क्या कहा जाए !) कलजुग है, कलजुग !" समिया की नानी सिर धुनती हुई बोली। कुछ देर वहाँ खड़े लोग की सहानुभूति बटोरती हुई वह विलाप करती रही और फिर कमर मलती हुई घर से निकल पड़ी। धीरे-धीरे वहाँ से भीड़ भी हटने लगी मगर सभी की आँखों में बिंदेसर के प्रति घृणा थी।

दिन चढ़ चुका था। दोपहर हुई भी नहीं थी मगर तेज धूप के करण धरती तपने लगी थी। मन की व्यथा समेटकर बिंदेसर की माँ एक पेड़ की छाया में बैठ गयी। चारों तरफ खेत-ही-खेत ! खेत की मिट्टी अभी नम थी और उसमें से सोंधी-सोंधी खुशबू आ रही थी। सुबह-सुबह इसे पटाया गया था। करीब-करीब सारे खेतों में लत्तर वाली सब्जियाँ बोयी हुई थीं। तुरई, कद्दू, करेले, बोरो---और भी। कुछ-कुछ खेतों में तो मखमली हरियाली भी छायी थी। सभी खेतों पर उसकी सरसरी निगाहें दौड़ी जा रही थीं, तभी उसकी नजरें पाँच कट्ठे वाली जमीन पर अटक गयीं। वह जगत बाबू की जमीन थी। खाली पड़ी जमीन को देखकर वह सोचने लगी--"बेटा शहर में कमाने क्या गया, जमीन की सेवा भी न हुई। अब कहते हैं--बेच देंगे ! बताओ ! बाप-दादा की निशानी भी बेची जाती है ? बेटी ब्याहना भी नहीं है, फिर भी---! जब-तक रहते तब-तक तो जमीन को न कलपाते ! बाद में बेटा देखता ! खैर ! दूसरों के बारे में क्या सोचूँ ! अप्पन करम फूटल, का देखें जग लूटल !" वहीं बैठी-बैठी वह गौरी के लिए आहें भरने लगी। उसकी हताश नजरों में बेटी को देखने की प्यास बढ़ती जा रही थी, लेकिन प्यास बुझाने वाली नदी सूख गयी थी। गौरी पर ध्यान आया--"गौरी भी वहाँ कलपती होगी ! नइहर में टाट की झोपड़ी ही सही, लेकिन आना कौन नहीं चाहती ! चार दिन पहले ही न कलुआ भइया की बेटी आयी है ! पाँच बीघा खेत, दस बखारी और

तीन-तीन भैंसों की मालकिन बन गयी है, लेकिन यहाँ ? बाप के पास क्या है ! 'हाय हुल्ला, देह खुल्ला' ! फिर भी यहाँ आकर खुश है । परिवार-तो परिवार, गाँव भर की औरतें उसे घेरे रहती हैं । कुमरकी (कुँआरी लडकियाँ) तो साथ भी न छोड़ती । लेकिन गौरी---ससुराल गयी तो वहीं की होकर रह गयी । बिंदेसरा कभी बुलाया ही नहीं ! चाहकर भी का होगा ! समिया की नानी ठीक ही कहती है---'करम फूटे तब हाथ कटे, बैठे टूक-टूक देख अब, चाहे घर-परिवार लुटे' ।" आँसू पूरित आँखों से वह अपने हाथों को देखने लगी । अचानक मानो बिजली की चमक उसके दिमाग में कौंध गयी । आँसू पूरित आँखों में आशा तैरने लगी--"क्यों न जगत बाबू की जमीन में कुछ सब्जियाँ उगाकर बेचूँ ! जमीन जब बिकेगी, तब बिकेगी ! एक बार तो रुपये कमाकर गौरी को बुला ही सकती हूँ ।" उसने हिसाब लगाया--"पाँच कट्ठा जमीन में एक हजार का बीज । कमाई होगी--करीब साढ़े पाँच हजार । न तो-पाँच तो जरूर ही ! पाँच ही मानकर चलते हैं-- तो फायदा हुआ--चार हजार । गौरी को बुलाने पर विदागरी (विदाई) में खर्च ? कपड़ा-लत्ता, मर-मिठाई लेकर डेढ़ हजार तक ! तब हाथ में बचे अढ़ाई हजार । अरे ! और नतनिया के लिए पायल ? हाँ, पायल तो देना ही है । यानी पाँच सौ पायल में । बचे--दो हजार । चलो, इधर-उधर पाँच सौ और सही ! यानी कि हाथ में डेढ़ हजार रुपये भी आ जाएँगे ।" आशा की एक किरण उसके शरीर में स्फूर्ति भर गयी । तेज कदम बढ़ाती हई वह जगत बाबू के घर की और बढ़ने लगी । उस वक्त तेज धूप से न उसका सिर गरम हो रहा था, न तलवे जल रहे थे । लक्ष्य दिख रहा था इसलिए रास्ते पर की समस्याओं से अनभिज्ञ थी । रास्ता भर सोचती जा रही थी--"छः माह की तो बात है । लत्तर तो कम समय लेते हैं । अभी वैशाख है, कार्तिक में बुलवा लूँगी । इस बार पवनी (छठ पूजा) भी यहीं देख लेगी । बिंदेसरा को क्या कहूँ ! जो भी सोचे, बस खुश रहे !" अचानक उसका ध्यान भटका--- "अगर जमीन न मिली तो ?" ऐसा विचार आते ही

मानो वह आसमान से गिरकर धरातल पर भी न ठहरी, रसातल में समा गयी। "नहीं-नहीं, उनके पाँव पकड़ लूँगी। वैसे भी, हमारे पुरूखों का अहसान लदा है उन पर। यही जगत बाबू की मेहरी ! तीन-तीन बच्चों को जन्म उसने दिए, मगर सब-के सब मरे ही पैदा हुए। तब यही बिंदेसरा की दादी ! चौथे में रही। जच्चा-बच्चा-- दोनों की सेवा के लिए, सो देखो, वही बेटा शहर में बाबू बना बैठा है ! जगत बाबू ने ही कहा था कि बिंदेसरा की दादी, तूने मेरे घर में चिराग जलाया है, तेरा घर कभी अंधेरा न होगा। यह अलग बात है कि हम छोटे लोग से उन्होंने कोई मतलब न रखा, लेकिन करजदार तो हैं न ?"

इसी उधेड़-बुन में उलझी वह जगत बाबू के घर पहुँच गयी और याचना भरे शब्दों में अपने मन की बात उनके समक्ष रख दी। उसकी बातों को ध्यान से सुनने के बाद उन्होंने बड़े इतमीनान से कहा--"देख बिंदेसरा की माँ ! जमीन तो बिक चुकी है, लेकिन तुम्हारे कहने पर मैं कुछ माह तक कागजी काम न करूँगा। हाँ, जमीन मेरी रहती, तो भाड़े की कोई बात न थी मगर खरीददार तो इसका भाड़ा लेगा न ?"

बिंदेसर की माँ का दिल बैठ गया। दीन आँखों से उन्हें देखती हुई पूछी---"कितना ?"

"यह तो वही बताएँगे, लेकिन मैं कम करने कहूँगा। इतना तो तुम्हारे लिए कर ही सकता हूँ। मैं भूला नहीं हूँ कि मेरे खानदान पर तुम्हारे पुरूखों का बहुत बड़ा अहसान है।

"अच्छा बेटा ! खूब समझती हूँ !" मन-ही-मन वह उन्हें कोसने लगी--"बगुला भगत कहीं का ! पंजे से माला फेरते-फेरते लालच की चोंच में मजबूरी की मछली पकड़ ही ली ! अरे ये लोग किसी का अहसान मानने वाले हैं ? नमक हराम ! कौन नहीं जानता कि इसके परदादा गद्दार थे ! अंग्रेजों के खिदमगार (ख़िदमतग़ार) बनकर देसी लोग को दगा दिया करते थे

। आखिर ओही (उसी) गद्दार का खून न इसमें भी दौड़ रहा है !" अपने उत्तेजित भावों को मन में दबाती हुई, कुछ चिंतित होकर बोली--"लेकिन--रुपये तो नहीं हैं।"

"अरे महाजन से ले लो ! वह किस दिन के लिए है ?"

"महाजन से !" कुछ सोचती हुई वह बोली--"सूद भी तो देना होगा ! खैर ! जादे-से-जादे (ज्यादा-से-ज्यादा) कितना देना होगा ? कोई अंदाजा ?"

"पाँच कट्ठा जमीन है तो----एक हजार में पटा दूँगा, वो भी तुम्हारे लिए कहने पर।"

निपूतरा, मुझे सिखाने चला है ! 'चिरई के बचवा बोले चिरई को कि माई गे--- चीं-चीं बोल ! लेकिन इसको का कहें ! अप्पन जनमल (अपना जना) ही अप्पन न हुआ, यह तो फिर भी दूसर खून है ! यानी डेढ़ हजार में से एक हजार और का खर्च ! अच्छा---गौरी तो आएगी न !" सोच-विचार कर वह धीरे-से बोली--"ठीक है !" दोपहर हो गयी थी, मगर उसे भूख नहीं लगी थी। वहाँ से वह सीधे महाजन के पास गयी। दो हजार रुपये कर्ज माँगने पर वह चौंक उठा --"दो हजार !"

"हाँ मालिक ! कम-से-कम इतना तो चाहिए ही I"

"कुछ सोचकर वह बोला--"गैरेंटर कौन बनेगा ?"

"बस-- जुबान देती हूँ मालिक। उपजा बेचकर आपका ही कर्ज पहले चुकाऊँगी।"

"अगर उपजा नहीं हुआ तब ?"

"क्यों न होगा ?" बिंदेसर की माँ इस तरह झल्लायी, मानो किसी ने उसकी औलाद को गाली दे दी हो।

"मेरा मतलब है---आँधी-पानी, धूप-पाला--मौसम का कोई ठिकाना है !" बिंदेसर की माँ चुप रही। बात तो सही थी लेकिन वह आत्मसात् करने को तैयार नहीं थी कि उसकी मेहनत आँधी से बरबाद हो जाएगी, पानी में डूब जाएगी, पाले से दब जाएगी या फिर धूप में मुरझा जाएगी।

"न-न मालिक ! ऐसा न होगा।" हाथ जोड़कर बड़ी दीनता से वह बोली।

"भगवान न करे ऐसा कुछ हो ! मगर, हुआ तब ? तब तो मैं ही न नुकसान में रहूँगा ? इसलिए बेटा को कहो, वह गैरेंटर बन जाए। वो भी केवल तुम्हारे लिए ही कह रहा हूँ, क्योंकि तुम्हारे ससुर के साथ मेरा अच्छा संबंध था वरना कोई-न-कोई संपत्ति रखवाकर ही यह काम होता है।"

बिंदेसर की माँ कुछ न बोली। वह अच्छी तरह जानती थी कि बिंदेसरा गैरेंटर बनने के लिए कभी भी तैयार न होगा, उल्टे उसे ही भला-बुरा सुना देगा। हताश होकर वह लौट चली। अब सूर्य का प्रचंड ताप उसे सहन नहीं हो रहा था। पैरों में छाले की लहर भी महसूस होने लगी थी। आशा के प्रकाश में सभी असंभावनाएँ विलीन होकर विश्वास के मोती बनकर चमकने लगती हैं किंतु निराशा के बादल छाते ही, संभावनाएँ भी मलिन दिखने लगती हैं। लौटकर वह उसी पेड़ के नीचे आने लगी, जिसकी छाया में बैठकर जमीन के जरिए वह गौरी से मिलने का सुंदर स्वप्न देख रही थी। लेकिन, वह वहाँ तक पहुँच न पायी। उसका सिर घूमने लगा इसलिए एक घर के आगे बने बरामदे में वह बैठ गयी। यह घर जगत बाबू की जमीन के पास ही था। घर नया था जिसमें पिछले दो वर्षों से ही एक दंपत्ति रह रहे थे। प्यास के कारण उसका गला सूखा जा रहा था। धीरे-धीरे उसने दरवाजा खटखटाया। एक महिला अंदर से निकली और उसने पूछा--"आप कौन हैं माई ?" बिंदेसर की माँ कुछ बोलती कि इसके पहले ही वह बोल पड़ी ---"हाँ-हाँ ध्यान आया, यहीं--आस-पास ही आपको देखा है। आज सुबह उस पेड़ के नीचे----!"

"बेटी, जरा पानी पिला दो !" उसकी बातों को काटती हुई बिंदेसर की माँ बड़ी दीनता से बोली।

"हाँ माई, जरूर !" महिला जब अंदर से पानी लेकर लौटी तो उसने देखा कि वह अपने जीर्ण-मैले आँचल से अपनी आँखें पोछ रही है।

"क्या बात है माई ?" उसकी दीनता को देख उस महिला ने पूछा। सहानुभूति की शीतलता से मन का ताप वाष्प बनकर उसकी आँखों में छा गया और आँसू के रूप में अविरत गिरने लगा।

"माई ! क्या बात है ? बेटा-बहू से झगड़ा हुआ है क्या ?" वह जानती कि यहाँ यह आम बात है।

"ना बेटी ! अपने ही करम से झगड़ा हो गया।" वह फूट-फूटकर रोने लगी। फिर अचानक वह चुप होकर उठी और जाने लगी।

"माई !"-- महिला ने रोकते हुए कहा--"बताती जाओ माई, नहीं तो मेरे दिल पर एक बोझ रह जाएगा।

"का कहें ! महाजन से दो हजार रुपये माँगे, वो जो जमीन है न जगत बाबू की ?" जमीन की ओर अंगुली इंगित करती हुई वह बोली--"उसी में सब्जी उगाने के लिए। सोचा कि कुछ रुपयों की कमाई हो जाएगी, पर देने से वह इंकार कर गया।" भारी मन से वह बोली।

"लेकिन-- आपको रुपयों की क्या जरूरत है ? घर में और लोग नहीं हैं ? यानी बेटा---!"

"है न ! एक बेटा है--बिंदेसरा ! लेकिन-- अब वह माँ का बेटा कहाँ रहा ! अभागा केवल जोरू (बीवी) का होकर रह गया। कुछ कमाई हो जाती तो कातिक (कार्तिक) तक बेटी को बुलाती। बुलाऊँगी तो खरच भी तो होगा न

! विदाई के समय कपड़ा-लत्ता, मर-मिठाई और नतनी (नातिन) के लिए न कुछ तो पायल तो दूँगी न !"

"तो बेटा से कहें।"

"वही समझता तो रोती काहे ? एक ही कोख में दोनों रहे लेकिन धरती पर आकर दुनिया का रंग का चढ़ा, अलग-अलग रंग दिखाने लगे !" महिला ने मन-ही मन कहा---"सच है, माँ-बाप की अँगुली छोड़ कर बच्चे चलने क्या लगते हैं, कि अलग-अलग रंग-ढंग, अलग-अलग सुर। लेकिन---- माँ-बाप की निजी जिंदगी में सन्नाटा भर भी जाए, तब भी अपने बच्चों की किलकारियों से, या फिर किलकारियों के यादों से उनका हृदय सदैव गुंजित रहता है। और दो हजार रुपये ! केवल इतने के लिए इतना हृदय विदारक विलाप ! कुछ दिन पहने ही इससे ज्यादा रुपये मैंने साड़ी खरीदने में खर्च कर दिये थे। सही कहा गया है, "पैसे का सही मोल वे लोग ही समझते हैं, जिन्होंने कभी अधिक गिने न हों।"

बिंदेसर की माँ की दीनता देख उसका दिल भर आया। बहुत ही नम्रता के साथ वह बोली---"कोई बात नहीं माई, मैं देती हूँ दो हजार रुपये।"

वह उसे फटी-फटी आँखों से देखने लगी।

"हाँ माई ! दुखी न हो, मुझसे ले लेना।"

"लेकिन---कोई गैरेंटर नहीं है।"

"चाहिए भी नहीं।"

उस महिला को आश्चर्य से अपलक वह देखती रही। चुप थी मगर हृदय दुआएँ दे रहा था। करुणा के जल में अब एक मनमोहक कमल खिल चुका था। दो हजार रुपये में से एक हजार रुपये जगत बाबू को देकर वह घर लौट आयी।

दोपहर ढल चुकी थी, शाम होने को आयी लेकिन हवा में उष्मता की कमी न थी। बिंदेसर की माँ घर पहुँचते ही बरामदे पर निढाल होकर बैठ गयी। बहू ने झाँक कर देखा और उसके सामने भोजन की थाली रखकर चुपचाप अंदर चली गयी। यह भी न पूछा कि इतनी धूप में वह कहाँ थी। अगली सुबह पौ फटते ही वह खेत में गयी। आस-पास के खेतों को नलकूप से पटाया जा रहा था। इसके खेत को भी पटाया गया। मिट्टी नम हुई। दो दिनों तक वह नम मिट्टी से घास-फूस और ईंट-पत्थर के टुकड़े निकालती रही। तीसरे दिन खुरपा से मिट्टी को मिलाकर उसने तुरई के बीज डाले। उस दिन से वह प्रति दिन पौ फटते ही खेत की ओर चली जाती। अन्य खेतों के साथ इसके खेत में भी पानी पट जाता। दोपहर में वह उस महिला के घर के आगे जो छज्जा था, उसी के नीचे बैठकर मुदित मन से अपने खेत को टकटकी लगाये देखती रहती। उसे वहाँ बैठी देख वह महिला भी अपने कमरे से निकल आती और फिर दोनों के बीच बातचीत का दौर शुरू हो जाता।

बिंदेसर से यह बात छिपी न रही कि उसकी माँ ने किसी से दो हजार रुपये कर्ज लेकर जगत बाबू की जमीन पर सब्जियों का बाग कर रही है। वह भड़क उठा। चीखकर अपनी माँ से पूछा--"करजा काहे ली ?"

"तरकारी उगाकर बेचे ला (बेचने के लिए) I"

झुंझलाकर बोला---"करज लेन-देन की शर्त क्या है ?"

"कुछ न।" इस बार वह धीमी आवाज में बोली।

"कुछ न ! गैरेंटर कौन बना है ?"

"कोई न (नहीं)।"

"आयँ ! कोई न ! इत्ता रुपया कोई ऐसे ही कैसे दे देगा ?"

"भरोसा पर।"

"का ? भरोसा पर ! सब चीज पर भरोसा कर सकते हैं, लेकिन जिंदगी पर ? इस पर भरोसा कोई कर सकता है का ? भगवान न करे, अगर बीच में ही तू टें बोल गयी तब ?"

उसकी माँ चुप रही।

"बोल ? तब तो हमें ही दो हजार भरने पड़ेंगे न ?" वह माँ को घूरता रहा और उसकी माँ उसे भयभीत होकर देखती रही। घर के आस-पास भीड़ लग गयी। जितने लोग, उतनी बातें। किसी ने कहा---"रोटी खिलने वाले की बात तो सुनना पड़ेगा न ! देख तो रहा है बेटवे (बेटा ही) न ? तब बेटी के लिए जान देने से फायदा ?" उसकी बातों का समर्थन करते हुए किसी दूसरे ने कहा---"हाँ भई ! बेटी तो दोसर कुल-खानदान की है, ब्याह दिया--बात खतम। पलंग पर रखे या जमीन पर--- रखने वाला तो बेटा ही है न !"

बिंदेसर की माँ कभी अपने बेटे को देखती, कभी बोलने वालों को। अपने पक्ष में खड़े लोग को देखकर बिंदेसर का ताव बढ़ गया। शालीनता दिखाते हुए बोला---"भई पलंग और जमीन की बात न है। जितना भर है, उतना भर करते हैं। इ तो नहीं न कि खुद पलंग पर सोते हैं, और इसे जमीन पर सुलाते हैं ?"

"का ! तोहर जोरू तो पलंग पर सोती है ! बिंदेसर की माँ की ओर से धनिया की दादी बीच में टपक पड़ी।"

बिंदेसर को बुरा लगा। हाथ चमकाते हुए चिढकर बोला---"हाँ तो पलंग बाबू जी की कमाई का है का जो हमने हथिया कर माय को खटिया थमा दी ? आयँ ? पूरा गाँव जानता है कि यह पलंग ससुराली है। और---और इ का बेटी को पलंग नही दी है ? (और क्या, इसने बेटी को पलंग नहीं दिया ?) का-का नहीं दी है ? (क्या-क्या नहीं दिया ?) पलंग के साथ दो-दो चद्दर, तोसख---गर्मी का दिन ! बाकी रजाई भी दी है !" धनिया की दादी को

अपमान-सा लगा। गाँव-भर के लोग उसका सम्मान करते थे, लेकिन बिंदेसर की बात--! तुनकती हुई बोली---"रे निपूता ! देह में आग काहे लग रहा है रे ? जोन कोख में तू रहा है, उसी में न गौरिया भी रही है ? दरद तो दोनों के लिए बराबर सही थी न रे कुकर्मी ? तो आज करेजा (कलेजा) में भी बराबरे दरद रहेगा न ? बेटा ला (के लिए) जग-जहान और बेटी ला कुँइयाँ (कूप) ? आयँ ? बड़का न ! मुँह चीर के बोल रहा है ! जा रे कुकर्मी---जा !"

"गे ! माथा गरम मत कर ! जाड़ा में कजरी गाने चल आयी ! अभी बात है कुछ और, और इ कुछ और लेकर बैठ गयी !" माँ को देखते हुए गुस्से से भरकर वह बोला---"साथ चल ! किससे करजा ली हो ? उसे लिखकर देना होगा कि हमें इस लेन-देन से कोई मतलब नहीं। जानो तुम और जानें वह।" वह भयभीत होकर दीन नजरों से अपने बेटे को देखती रही।

"अरे चल न !"--उसे धकियाकर, खींचते हुए घर के बाहर वह निकल पड़ा। तपती धूप में आगे-आगे रोती हुई बिंदेसर की माँक चल रही थी, उसके पीछे भनभनाते स्वयं वह और---- इन दोनों के पीछे कुछ तमाशबीन।

महिला अवाक् होकर दोनों को देखती रही।

बिंदेसर ---"इसने आपसे दो हजार रुपये लिए हैं ?"

"हाँ ! तो ?"

"मैं इसका बेटा हूँ, मगर भरपाई न होने पर मैं जिम्मेवार न रहूँगा। ---कहते हुए उसने एक लिखित कागज उस महिला की ओर बढ़ाया। महिला का चेहरा तमतमा उठा। उसके हाथ से कागज लेकर फाड़ती हुई बोली---" यह कर्ज तो मैं छोड़ दूँगी। लेकिन, तू अपने-आप को इनका बेटा कह रहा है न ? तो जा ! माँ के दूध का कर्ज केवल चुका दे।" सकपकाया-सा बिंदेसर मूढ़ बना खड़ा रहा।

कुछ दिनों बाद खेत में मखमली हरियाली छा गयी। खुश होकर वह उस महिला से बोली---देखो बेटी ! खेत कितना सुंदर लग रहा है ! है न ?" महिला की नजरें बिंदेसर की माँ पर टिक गयीं। उसने महसूस किया---"खेत की हरियाली इसके चेहरे पर चढ़ आयी है ! मखमली अहसास इसकी आँखों में उतर आया है और---इसमें मुसकाते सपनों के फूल, आस की ओस बूँदों से भींगकर और भी खूबसूरत दिखने लगे हैं।" मुसकराती हुई वह बोली--"हाँ माई ! बिलकुल तुम्हारी तरह !"

"धत् !" अपने आँचल से मुँह ढक कर शरमाती हुई वह बोली---"सूखे पेड़ पर भी फूल लगते हैं का ! सुंदर तो जवानी में दिखती थी ! बिंदेसरा के बाबू जी अँधेरिया का चाँद कहा करते थे।"

"अच्छा !"

"हाँ !" अचानक विकृत मुँह बनाती हुई बोली--"बाकी उनकर माई ! बाप-रे-बाप ! गाँव -भर देवर, लेकिन कोई से तनिक बात कर लेती ! आफत ! झट डपट पड़ती। चिल्लाने लगती--- "तोता-मैना जइसन का बतिया रहले हें गे ? देउर है, भतार न।" (तोता-मैना की तरह क्या बात कर रही है ? देवर है, पति नहीं)

उसके शब्द और उसके बोलने का ढंग उसे अच्छा न लगा। बात का विषय बदलती हुई बोली---"देखना माई, तुम्हारी मेहनत खूब रंग लाएगी।"

बिंदेसर की माँ का ध्यान खेत की ओर चला गया। प्रसन्नता के साथ बोली---"हाँ, तरकारी बिक्री होते ही दो हजार पहले दे दूँगी, तब बाकी रुपये रखूँगी। लेकिन---कहाँ रखूँगी ! बिंदेसरा तो कुढ़ कर रह जायगा और बहुरिया ! बाप-रे ! जलभुनकर पता नहीं का-का (क्या-क्या) उसे सिखाएगी।" कुछ सोचकर वह उस महिला से बोली---"बाकी के रुपये भी आप अपने पास रख लेंगी तो अच्छा होगा। जब काम पड़ेगा न, तब ले लूँगी।"

उसकी बाल-सहज बुद्धि पर वह मुसकरा उठी और सिर हिलाकर उसने उसके प्रस्ताव को उसने स्वीकार कर लिया। अनानास उसकी स्निग्धा मुसकराहट पर चिंतन की कड़ी धूप पड़ने लगी। वह सोचने लगी---"चार-पाँच हजार रुपये की कमाई ! वो भी छः महीने में ! कृश तन में कितना मजबूत मन लेकर यह वृद्धा कर्म क्षेत्र के कठोर राह पर चल रही है ! एक तरफ हमलोग हैं ! कल ही तीन हजार रुपये अपने पति से लिये --जूते खरीदने के लिए ! मानव-मानव की जीवन शैली में इतनी विषमताएँ ! खैर ! अपना-अपना भाग्य है !" आह भरती हुई वह शून्य आकाश की ओर वह देखने लगी।

कुछ दिन और बीते। बिंदेसर की माँ खुशी से चीख पड़ी---"हो चरना, भूलेसरा, गोविन्दिया माई !---देख-देख लत्ती में फूल दिखे लगा रे ! पीले-पीले, ढेर- सा !" उसकी बातों को सुनकर सभी हँसने लगे। उसकी बात का मजाक उड़ाते हुए चरना बोला--"फूल ? हम्मर खेत में तो सीधे तुरईए फरल हई दादी।" लेकिन उसे किसी की हँसी का परवाह न था। मंत्रमुग्ध हो वह पीले-पीले फूलों को देखती रही। देखते-देखते बतिया भी दिखने लगे और दिनों-दिन बढ़ते गये। उसकी खुशी का ठिकाना न था। उस महिला के घर के आगे बैठकर अपनी बेसुरी आवाज में गीत गाती रहती। एक दिन महिला ने हँसकर पूछा---"क्या गाती हो माई ?"

वह हँस पड़ी। "नतनी (नातिन) के ब्याह का गीत गा रही हूँ।"

"अभी से ? अभी तो वह बहुत छोटी है न ?"

"हाँ लेकिन उसके ब्याह तक जिंदा न रहूँगी न ! इसलिए अभीए (अभी ही) गा देती हूँ।"

उसे देखकर महिला सोचने लगी---"वाह ! कितनी निःछल जिंदगी है ! लेकिन उतनी ही कठिन ! छोटे-छोटे पल में भी ये लोग खुशियों के मोती ढूँढ़ते हैं और एक हमलोग हैं ! मोतियों को बिखेर कर उन्हीं पर चलते हैं,

इसीलिए गिरते हैं और चोट लगने पर दुखी होते हैं। सच में, विपन्नता में जितना संतोष है, उतना ही असंतोष संपन्नता में है। विपन्नता की स्थिरता में संयम है, परंतु संपन्नता की धारा में चंचलता !" बिंदेसर की माँ प्रफुल्लित मन से खेत में लगे तुरई के ढेर-सारे फूल और बतिया को देखकर गीत गाती हुई सोचने लगी---"बस, कुछ दिन और ! फिर तो रोज तुरई तोड़कर बेचूँगी। हाँ, पहले मालकिन बिटिया को खाने के लिए जरूर दूँगी।"

एक रात ! तेज ठनका गिरने की आवाज से चौंक कर वह उठ बैठी। धड़कते कलेजे को थामती हुई वह दौड़ी-दौड़ी आँगन में आ गयी। तेज आँधी और वर्षा की बाछौर ! कलेजा मुँह को आ गया !

"हे भगवान ! इ का हुआ !" दरवाजा खोलकर वह बाहर की ओर दौड़ पड़ी, तभी बिंदेसर ने देख लिया। अपनी माँ को जबरन् कमरे में धकेलते हुए चिल्लाया---"पगला गयी का ? आँधी-पानी में कोई पेड़ तुम पर गिर जाये, कोई अनहोनी हो गयी तो बचोगी ? गाँव-घर के लोग तो हमें ही दोषी कहेंगे न ? चल ! चुपचाप सो।" घबराहट और भय के साथ वह खिड़की से आकाश को देखने लगी। काला आकाश लाल हो चुका था। वह कमरे में बैठी थी मगर ध्यान खेत की ओर दौड़ा जा रहा था। तभी उसने देखा--आँगन में बड़े-बड़े ओले बरसने लगे। वह अपने कलेजे पर हाथ रखकर सिर धुनती हुई विलाप करने लगी। रात-भर वर्षा होती रही। जब-जब ठनका गिरता, हृदय विदारक अपनी चीख से मानो वह उसे चुनौती देती।

धीरे-धीरे वर्षा की रफ्तार कम हुई। निराशा अब सिसकियों में उलझकर उसकी वेदना को जकड़ी हुई थी। कुछ देर बाद ही उसने अपने आँगन में फुदकती हुई मैना देखी। पूरे वेग से उठकर वह बाहर आ गयी और खेत की ओर दौड़ी। पूरब दिशा सिलेटी रंग से आच्छादित हो चुकी थी ! आकाश में अभी भी कहीं-कहीं बादल छाये थे। रात्रि का अंधकार छटने लगा था। उषा

तो नजरें झुकाकर आ गयी थी मगर भगवान भास्कर इस हृदय विदारक और बीभत्स दृश्य देखने से मानो अपनी नजरें चुरा रहे थे। घबराहट और दुख का बोझ लिए वह दौड़ी-दौड़ी खेत के पास आ गयी। सारी लताएँ अस्त-व्यस्त होकर जमीन पर लेटी हुईं ! ओले गिरने के कारण फूल भी मिट्टी में मिल गये ! हतप्रभ हो वह वहीं कुछ देर बैठी अस्त-व्यस्त लताओं को फटी-फटी आँखों से देखती रही और फिर----छाती पीट-पीट कर चीखने लगी। आकाश देखकर कभी भगवान से अपनी बर्वादी का कारण पूछती, कभी जमीन देखकर अपने भाग्य को कोसती। नुकसान तो औरों को भी हुआ था, लेकिन बिंदेसर की माँ का विलाप देखकर अपना दुःख वे भूल गये थे। बिंदेसर भी वहाँ आ पहुँचा। खेत की बर्वादी पर माँ को रोते देख चीख पड़ा---"अब सधाना कर्ज ! एक ढेला भी न दूँगा ! समझी कि नहीं ? बेटी के लिए इतनी बेचैनी ! गाँव-भर में एक तुम्हीं को बेटी है न ! अब उसी से माँग ! ओही (वही) सधाएगी कर्जा !"

चार बातें सुनाकर बिंदेसर तो चला गया, मगर उसकी माँ वहीं बैठी विलाप करती रही। खेत की दुर्दशा देखकर, अपने-अपने दुर्भाग्य पर चंद आँसू बहाने वाले अन्य लोग तो वहाँ से चले गये लेकिन बिंदेसर की माँ वहीं बैठी विलाप करती रही।

दिन चढ़ आया था। महिला ने अपने कमरे की खिड़की खोली। बाहर का दृश्य देखकर उसकी आत्मा काँप उठी--"हाय ! किसी ने सच ही कहा है कि अभागे के सपने कभी सच नहीं होते !" बिंदेसर की माँ और उसका विलाप ! जैसे कोई माँ अपने जवान बेटे की मृत्यु पर कलेजा पीट रही हो ! वह महिला दुखी मन से बिंदेसर की माँ के पास आयी मगर वह आँखें बंदकर अपना सिर धुने जा रही थी, इसलिए उसे देख न सकी। उसके कंधे पर हाथ रखते हुए महिला ने बड़े प्यार से कहा---"माई---!" बिंदेसर की माँ की दीन आँखें उसपर जा टिकीं। इसके पहले कि वह वह कुछ बोलती, वह उठी और

डरकर चीखती हुई वहाँ से भाग खड़ी हुई। वह चीखती हुई भागी जा रही थी और उस महिला की आवाज पीछा करती रही---"माई---माई--रुको माई---बात तो सुनती जाओ---!

उसी दिन ! गाँव में खलबली मची हुई थी। बिंदेसर के घर के आगे भीड़ जमी हुई थी। कारण ? बिंदेसर की माँ कीटनाशक दवा खा चुकी थी। स्थिति गंभीर थी इसलिए डाक्टर लगा था। इस दुखद समाचार को मिलते ही गौरी भी अपने पति और बेटी के साथ वहाँ पहुँच चुकी थी। वह महिला भी वहीं थी। डाक्टर साहव के साथ-साथ गावँ के कुछ बुजुर्ग उसे उल्टी-पर- उल्टी करवाने में लगे थे। एक तरफ बिंदेसर अपने-आप को दोषी मानकर अपना सिर धुन रहा था, तो दूसरी ओर वह सभ्य महिला अपने-आप को दोषी समझ रही थी क्योंकि उसी के रुपये अदा न करने की स्थिति में उसने आत्महत्या करने की कोशिश की। महिला की आँखों से अविरत आँसू गिरे जा रहे थे। सहमी दृष्टि से महिला को देखते हुए बिंदेसर बोला---"आपके रुपये मैं धीरे-धीरे चुका दूँगा।" सुनते ही महिला के आँसू अचानक-से रुक गये और आँखों में अंगारे धधकने लगे। बड़े ही उपेक्षित ढ़ंग से बोली---"जा रे अभागे ! माँ का कर्जदार रहकर तू मेरा कर्ज चुकाएगा ? और वैसे भी, मैंने कर्ज दिया ही कब ? वह तो सहायता के लिए अनुदान था, कोई कर्ज नहीं।"

बिंदेसर की माँ की हालत में सुधार आने लगी। धीरे-धीरे उसने अपनी आँखें खोलीं। सामने गौरी को देखकर उसकी आँखें फटी-की-फटी रह गयीं। पल भर बाद उसने बिंदेसर को दीन नजरों से देखा। वह फूट-फूटकर रो पड़ा। अपनी सिसकियों पर बड़ी मुश्किल से काबू पाते हुए बोला---"माई----! हम लड़-झगड़ लें, गाली-गलौज कर लें, मुँहाठेठ्ठी कर लें चाहे मारा-पीटी भी कर लें लेकिन---- तू हम्मर माय ही रहेगी और हम तोहर बेटा। (तुम मेरी माँ ही रहोगी और मैं तुम्हारा बेटा)

"और गौरिया ? सहोदर होकर भी कोई न है ?" निरीह आँखों से उसे देख, वह कराहती हुई पूछी। उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे।

"न-न--! इ कैसे होगा ! कोई का ? बहिन है--बहिन ! देख---हमीं बुलाए हैं इसे। पूछ ले गाँव भर से। बाबू जी न रहें, लेकिन---उनके जगह पर भाई हैं---भाई ! चिढ़ और गुस्सा से उबलते खून में कितनी भी खटाई पड़ जाए---- दूध की तरह यह फट नही सकता।"

माँ- बेटा एक- दूसरे को भावभीनी नजरों से देखते रहे मानो दोनों एक-दूसरे के हृदय में उतर रहे हों---बेटे के हृदय में अपना स्थान देखने के लिए माँ और---माँ के हृदय में जख्मों पर मरहम लगाने के लिए बेटा, जिन्हें जाने-अनजाने उसी ने दिये थे।

"ले-ले---ले न-- ! बेटा-पतोहू यहीं हैं--मार--मार न, लेकिन--लेकिन छोड़ कर जाने की मत सोच !" माँ के वक्ष पर अपना सिर रखकर वह बिलखने लगा। उसकी माँ के सूखे होंठों पर हल्की मुसकान खिल गयी क्योंकि वह जान गयी थी कि उसके बेटे के ये आँसू, उसके मन का मैल लेकर बह रहे हैं। बिना कुछ बोले वह उसके सिर को बड़े प्यार से सहलाने लगी। अनायास उसकी नजर उस सभ्य महिला पर पड़ी। उसकी आँखें भर आयीं। वह कुछ बोलती, कि इसके पहले ही वह महिला अपने आँसू पोछती हुई बोली---"माई ! तुम्हारी जिंदगी का मोल क्या दो हजार रुपये ही है ? वैसे भी वे रुपये कर्ज नहीं थे माई !" बिंदेसर की माँ कुछ पल उसे अपलक देखती रही और फिर आँखों में कृतज्ञता भरकर बोली---"आपकी कर्जदार तो हूँ बेटी ! आपके उसी दो हजार रुपये के जरिए आज पूरा घर-परिवार फिर से मिल गया। सुख-संतोष वाला जीवन मिला। और हम्मर (मेरी) जिंदगी का मोल ? दो हजार में नयी जिंदगी ! बेटी ! आपलोग सदा सुखी रहें !

गाँव वाले इस दृश्य को बड़े भावभीन होकर देख रहे थे। सोमिया की नानी अपने आँसू पोछती हुई बोली---"बड़ी भाग्य वाली हो बिंदेसरा की माय ! लाठी पड़ने पर भी तोहर (तुम्हारे) घर का पानी अलग न हुआ। न तो (वरना) अब कलजुग ना, भटजुग है----भटजुग ! यहाँ अब कुछ भी असंभव नहीं। लाठी पड़ने पर पानी का अलगाव भी देखे ला (देखने को)मिल ही जाता है।

तीसरा बेटा

चंदन की पत्नी को परछते समय ममता देवी की ख़ुशी चरम सीमा पर थी। दो बेटों की शादी उन्होंने पहले भी की थी, मगर वे दोनों अपने थे - खून का नाता था उनके साथ, और यह तीसरा बेटा 'चंदन' !------ बीस वर्ष पहले की स्मृति उभर आयी----।

भुवन उपाध्याय, अपने परिवार के साथ एक साधारण रेस्तराँ में जलपान के लिए बैठे थे। उनकी पत्नी चुप थीं। वह इसे फजूल खर्च मानती थीं, मगर कुछ बोल नहीं पायीं, क्योंकि उनकी शादी का वर्षगाँठ था। बच्चों ने जिद पकड़ रखी थी कि शादी के इस वर्षगाँठ पर बाहर कहीं खाया-पिया जाये। उनकी पत्नी को बच्चों की यह जिद अच्छी न लगी, मगर सबकी प्रसन्नता को एक बनावटी मुसकान के साथ आत्मसात् कर रही थीं। 'यह क्या ?'- उन्होंने सोचा- ''सबकी इच्छानुसार भोजन घर में ही बना देती, एक तिहाई भी खर्च न होता। बाहर खाना खाने का क्या शौक है ! और--- ये भी न ! बच्चों की बातों का गाँठ बाँध लिया करते हैं। अरे, पैसे बचेंगे तो इन्हीं पर खर्च होंगे न ! कौन मानेगा ! साधारण कमाने वाले हैं, फिर भी दोनों बच्चों पर दस-पंद्रह हज़ार रुपये प्रतिमाह खर्च करते हैं। बिचारे; अपने लिए एक कपड़ा भी जल्दी नहीं लेते, मगर बच्चों से पूछ-पूछ कर कपड़े खरीदवाते हैं, और ये बच्चे ! सोचा भी नहीं कि जितने रुपये यहाँ एक वक्त के भोजन में खर्च होंगे, उतने में पिता जी के लिए एक पोशाक हो जाएगा।''

"अरे चंदन !" भुवन बाबू की आवाज़ से ममता देवी की तंद्रा टूटी। सिर घुमाकर उन्होंने देखा - आठ-नौ वर्ष का एक बच्चा, बरतन धोते हुए, उत्सुकता से उन सभी को देख रहा था। शरीर पर जीर्ण कपड़े, एक पतला

पुराना कोट, गंदा पायजामा पहने था, जो घुटने से कुछ ही नीचे था। चेहरा सूखा था, मगर भुवन बाबू को देखकर मुसकरा रहा था। आँखों में आशा की ज्योति न थी, तो निराशा की घटा भी नहीं थी, बस कर्म का पताका लिए वह बालक, वर्तमान का सामना करने वाला एक कर्मवीर सदृश दिख रहा था।

अरे---रे-रे ! इतनी ठंड में किकुरता हुआ बच्चा ! – आँखों में दया भरकर ममता देवी अपने पति की ओर देखने लगीं।

''तू अब यहाँ काम करता है ?''- भुवन बाबू ने कुछ आश्चर्य के साथ पूछा।

''हाँ साहेब जी।"

"खर्च निकल आता है ?"

"नहीं, लेकिन जो मिलता है, उसी में जी लेता हूँ।" भुवन बाबू कुछ देर चुप रहे। फिर पूछे – "और तुम्हारे पिताजी ?"

"जेल में हैं।" – उसका संक्षिप्त जवाब था।

''फिर कोई नया बखेड़ा ?"

"हाँ दारू पीकर झगड़ा किया और पड़ोसी का सिर फोड़ दिया।"

"किस बात पर ?"

"हमारे जीवन में बिन बात की ही बात होती है साहेब।"

ममता देवी उस बच्चे को एकटक निहारती रहीं। सोच रही थीं – "ईश्वर दयालु हैं, करुणा निधान हैं, फिर किसी-किसी को वेदना के कीचड़ में डुबाकर क्यों तड़पाते हैं ?"

“अबे---कामचोर ! वहाँ बातें बनाकर सलामी लेने के लिए खड़ा है का रे ?”- रेस्तराँ के मालिक की कड़कती आवाज़ आयी। भयभीत होकर चंदन ने अपने मालिक को एक नजर देखा।

“हरामखोर, कुत्ते की तरह जिंदगी है न, जब तक चार दरवाज़ा बैठेगा नहीं, चैन नहीं।” भयभीत होकर चंदन वहीँ खड़ा रहा। ''अरे जा न, काम कर !''- कहते हुए उसने उसे धकिया दिया। भयभीत होकर चंदन वहाँ से भागा और जल्दी-जल्दी बरतन धोने लगा। सजल आँखों से कभी वह अपने मालिक को देखता, कभी भुवन बाबू को। भुवन बाबू को रहा न गया। रेस्तराँ के मालिक को फटकारने लगे – "भाई ! बच्चे के साथ ऐसा कठोर व्यवहार क्यों कर रहे हैं ?"

''साहब, ऐसा व्यवहार न करूँ, तो काम करेगा ? हरामखोर सब, देश पर बोझ हैं। बाप ऐयाश, माँ पैदा करके सड़क पर छोड़ देती है। ऐसे लोग को रोजी-रोटी देकर हम अहसान ही करते हैं न ?"

‘‘चोरी और सीनाजोड़ी ! वाह री बुद्धि ! हक़ भी पूरा नहीं देते, दो रोटी के बदले व्यक्तित्व पर अधिकार जमा लिया, फिर भी अहसान जताते हैं !’’

भुवन बाबू ने कुछ रोष में कहा – "बालक से श्रम करवाना गुनाह है। मालूम है न ?"

रेस्तराँ का मालिक कुछ नम्र होकर कहने लगा – "अरे साहब, हमें भी रखने का कौन- सा शौक है ? भूखा था, सो रोटी दे दी ! अब रोटी मुफ्त की तो आती नहीं न ? यहाँ तो हर चीज का मोल चुकाना पड़ता है। और—और सरकार को क्या कहें ! ले जाएँ ! पढ़ाएँ-लिखाएँ, खिलाएँ-पिलाएँ ! मुझे क्या बुरा लगेगा ? लेकिन नहीं होगा न ! ‘बाल-मजदूर’ प्रथा हटाओ---‘बाल-मजदूर’ प्रथा हटाओ', आलाप करेंगे, मगर इनका जीवन कैसे सुनिश्चित हो,

इनके परिवार, जो इन्हीं पर आश्रित हैं—उनका पेट कैसे भरे – ये भी तो बताएँ !"

भुवन बाबू ने बड़े भावुक होकर कहा – "भाई, इतना समझते हो तो फिर इसके जैसे लाचारों के प्रति इतनी बेरहमी क्यों ?"

रेस्तराँ के मालिक के होंठों पर व्यंग्यात्मक मुसकान तिर गयी, मानो वह कह रहा हो- "इतनी ही दया आती है तो गोद क्यों क्यों नहीं ले लेते ? यह तो संवैधानिक अधिकार है न ?"

भुवन बाबू उसकी इस व्यंग्यात्मक मुसकानन का सामना न कर सके। उनके प्रश्न के बदले दूसरा मूक प्रश्न उनपर दागा जा चुका था।

"जाइए साहब !" - उसने कहा – "जलपान का हिसाब हो गया न ?" भुवन बाबू, सपरिवार रेस्तराँ से निकलकर जाने लगे। देखा, चंदन की नम आँखें उन्हें निहार रही हैं। उन्होंने जेब से पचास रुपये निकालकर उसे थमाये, लेकिन वह भयभीत आँखों से अपने मालिक को देखते हुए, रुपये लेने से इनकार करता रहा।

"अरे ले ले !"— रेस्तराँ के मालिक ने आवाज़ दी — "भले मानुष बहुत कम ही दिखते हैं।"

भुवन बाबू उसे रुपये थमाकर निकल पड़े, मगर उन्हें ऐसा लग रहा था, कि अपनी किसी कमजोरी को छिपाने के लिए उन्होंने चंदन को रिश्वत दिया हो। कैसी बिडंबना है ! शादी की सालगिरह पर एक अंतःवेदना उन्हें उपहार स्वरूप मिली ! घर आते ही वे चुपचाप बैठ गये, मानो थक गए हों। ममता देवी का हृदय भी उस घटना से आहत था। मर्मभेदक वह करुण दृश्य अभी भी आँखों में छाया था। मासूम चेहरा ! जो स्नेह-स्पर्श के बिना सूखा पड़ा

था। भयप्लावित सजल आँखें, ---- मानो अपनत्व को ढूँढ़ रही हों ! कुछ देर मौन रहने के बाद उन्होंने अपने पति से पूछा- “क्या नाम था उस बच्चे का ?”

‘चंदन।’ - जमीन पर टकटकी बाँधे, विचारमग्न हो उन्होंने कहा।

“आप उसे जानते हैं ?”

“हाँ, हमारे दफ्तर की दाहिनी ओर जो बस्ती है न, उसी में रहता है।”

"हाँ---, किंतु आप उसे कैसे जानते हैं ?"

"दफ्तर के आस-पास होटल, बैंक, मार्केटों की कमी तो है नहीं, इसलिए आते-जाते लोगों की कई गाड़ियाँ लगी रहती हैं। आए दिन वह उन गाड़ियों को जरा झाड़-पोंछ दिया करता था। गाड़ीवाहक उसे दो-चार थमा दिया करते। मेरी साइकिल की झड़ाई-पोछाई भी हो जाती थी।" – कहते-कहते उनके होंठों पर एक व्यथित मुसकानन दौड़ गयी। उनके सामने आज वह दृश्य अचानक उपस्थित हो गया।

"साहब ! साहब !---आपकी साइकिल चमक रही है न ?"---साइकिल पर सवार हुए भुवन बाबू ने दूर से आती आवाज़ सुनी। वे साइकिल से उतर गये और कभी अपनी साइकिल को देखने लगे, कभी निकट आते हुए एक बच्चे को। वह बच्चा अपने दाँतों को दिखाते हुए वहाँ आकर खड़ा हो गया।--जीर्ण वस्त्र, बिखरे बाल, नंगे पैर, आँखों में याचना और सूखे होंठों पर निश्छल हँसी !

“साइकिल चकाचक है न साहब ?" उसने पूछा।

"हाँ, ठीक है---, लेकिन---- गाड़ियों को झाड़-पोछ करते-करते तू साइकिल पर क्यों चला आया ?”

“पता नहीं क्यों-- इच्छा हुई, इसलिए चमका दी।”

‘अच्छा-अच्छा' – कहते हुए उन्होंने अपने पॉकेट से दस रुपये निकलकर उसे थमाते हुए कहा – “लेकिन अब नहीं झाड़ना। रोज-रोज दस रुपये देना, मेरे बस की बात नहीं है भई !"

"दस रूपये !!'' – हाथ में रुपये लेकर उसने कहा--"इतने में तो दस

दिन झाड़ दूँगा साहब ! उसके बाद बकाया चलेगा।"

उसकी भोली बातों से भुवन बाबू का हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने पूछा – “तुम्हारे घर में कौन-कौन हैं ?”

“अम्मा-बाबूजी, एक ब्याही बहन और एक बड़ा भाई।”

“तू पढ़ता नहीं है ?”

“पढ़ने से क्या होगा ?”

भुवन बाबू ने कहा –“अरे, बड़ा आदमी बनोगे !”

“आपकी तरह ?”- उसने तो बड़ी निश्छलता से उत्सुकतावश पूछा था, किंतु भुवन बाबू को यह बात चुभ गयी। वे कुछ पल के लिए मौन हो गये। कितना व्यंग्य था इस प्रश्न में ! सही तो था। पढ़ने-लिखने से ही कोई बड़ा आदमी आज बनता है ? उन्होंने सोचा – "मैंने भी बी.टेक की पढाई की। घर से रुपये खर्च किये, क़र्ज़ चढ़ा सो अलग, मगर फायदा ? दो वक्त के भोजन में भी किफायती का ध्यान ! बच्चों की जिंदगी सँवारने के लिए अपना स्वाभिमान भी बेच दिया। प्राइवेट नौकरी ----बंधुआ मजदूर बनकर रह गया !"

‘साहब जी !' -चंदन ने उनकी तंद्रा तोड़ी। "हाँ—हाँ, बड़ा आदमी बनो या ना बनो, पढाई तो जरूरी है बेटा !"--दीपक में तेल नहीं था लेकिन बाती में अभी भी आग थी, जिससे पता चल रहा था कि यह दीपक प्रकाश फैलाते-फैलाते थक चुका है।

“हाँ’, लेकिन कमाई कौन करेगा ?” बड़ी लापरवाही से चंदन ने पूछा।

"क्यों ? तुमने कहा न कि तुम्हारे घर में अम्मा-बाबू जी हैं, एक बड़ा भाई और बहन भी हैं ?"

“हाँ, हैं।” फिर उसने अपनी उँगलियों पर गिनते हुए कहा - "माँ सौतेली है, दूसरों के घर में काम करके अपना पेट पाल लेती है। बाबूजी है; कभी अम्मा से रुपये छीनकर, कभी इधर-उधर करके रुपये लाते हैं और दारू में गटक जाते हैं। भाई इस झमेले से हटकर भौजी के साथ रहते हैं और बहन ? ससुराल में। तो खुद कमाओ और खुद खाओ !"

भुवन बाबू अवाक् होकर उसकी बातों को सुन रहे थे, किंतु वह बिलकुल सामान्य ढंग से बोल रहा था। उसके चेहरे पर विषाद की हल्की रेखा भी न थी क्योंकि अपनी परिस्थितियों को उसने अपने दिनचर्या में शामिल कर ली थीं। उन्होंने महसूस किया कि किसी को दीनता में लिप्त देखकर हम जितना दुखी होते हैं, वास्तव में वह उसमें रह कर भी उतना दुखी नहीं होता क्योंकि उसकी दीनता को हम अपने दृष्टिकोण से या फिर अपनी जीवन शैली की कसौटी पर कस कर देखते हैं। मगर वह----! अपनी दीनता को खुद में आत्मसात् कर जीना सीख लेता है। खैर जो भी हो, सच्चे अर्थ में वह कर्मवीर था। जब भी वह भुवन बाबू को देखता, बत्तीसी दिखाते हुए सलामी दागता।

एक दिन वे दफ्तर में थे तभी बाहर से उन्हें शोर सुनायी पड़ा। झाँककर देखा, एक चमचमाती गाड़ी लगी थी, वहीँ पर एक आदमी चंदन को पीट रहा था, और वह चिल्ला-चिल्लाकर रो रहा था। "यह क्या ! दिखने से तो वह बुद्धिजीवी लग रहा है ! कोट, पैंट, शू---और एक अबोध दीन बच्चे पर इतनी क्रूरता !" भुवन बाबू दौड़कर नीचे आ गये। चंदन को बचाते हुए उन्होंने पूछा---"भाई साहव ! यह क्या है ?"

''हरामखोर, कुत्ते की तरह जिंदगी बीत रही है, देश का बोझ, किसने कहा था रे गाड़ी छूने ? – कहते हुए वह दाँत पीसकर चंदन की ओर फिर-से लपका।

"अरे—अरे साहब, बात क्या है ?"- भुवन बाबू ने चंदन का बचाव करते हुए दोबारा पूछा। वह व्यक्ति बड़बड़ाते हुए, उसके खानदान का परिचय अपने बीभत्स शब्दों में दे रहा था। साथ ही, उसने घूरकर भुवन बाबू को भी देखा। अपने सामने, साधारण पहनावे वाले व्यक्ति को देखकर बड़े ही उपेक्षित ढंग से उसने कहा - "तू तरफदारी क्यों कर रहा है ? तू इसका बाप है ? बाप है तो लाओ हरजाना। देखता नहीं गाड़ी का शीशा टूट गया है ?"

भुवन बाबू को इस बात के लिए गुस्सा नहीं आया कि, उसने उन्हें अपमानित किया। उन्होंने चंदन को देखा। निरीह आँखों से उसने भुवन बाबू को देखते हुए रोकर कहा-"साहब, शीशा में दरक थी। केवल किनारा पोछने के लिए कपड़ा फेरा कि शीशा टूट गया।"

वहाँ पर कुछ और भी लोग खड़े थे। सबने गाड़ीवाहक को शांत करवाया। गाड़ीवाहक भन्नाते हुए चला गया। इस घटना के बाद भुवन बाबू ने उसे वहाँ फिर कभी नहीं देखा।

सात-आठ माह बाद, उन्होंने उसे आज रेस्तराँ में देखा था। अब वे दफ्तर से लौटते, तो उसी रेस्तराँ वाले रास्ते से, ताकि उनकी नजर चंदन पर पड़ जाए। अनायास उन्होंने सोचा –'क्यों मैं उसके साथ एक अज्ञात बंधन में बँध रहा हूँ ? मैं उसके लिए क्या कर सकता हूँ ? एक शोषित, दूसरे शोषित की सहायता करे भी तो कैसे ? सहानुभूति जताकर ? निर्बल को सहानुभूति नहीं, सहायता चाहिए। सहानुभूति से भूख नहीं मिटती, भूख मिटती है रोटी से और रोटी, यानी सहायता के लिए सामर्थ्य चाहिए। और, और फिर देश में यह अकेला चंदन नहीं, और भी हैं ! मैं----मैं क्या कर सकता हूँ ?" अपनी भावनाओं को

उन्होंने अपने तर्क से बाँध लीं। उसके बाद वे उस रास्ते से फिर कभी नहीं गुजरे, जिस रास्ते में वह रेस्तराँ पड़ता था।

एक दिन भुवन बाबू को उसी रास्ते से गुजरना पड़ा। उन्हें अपने मित्र से मिलना था, जो उधर ही रहते थे। गुजरते समय, रेस्तराँ का दृश्य देखकर वे हतप्रभ होकर वहीं रुक गये। रेस्तराँ का मालिक चंदन पर चीख रहा था और उसे बुरी तरह पीट भी रहा था। उनसे रहा न गया। दौड़कर रेस्तराँ के मालिक को धक्का देकर पीछे किया और चीख पड़े – "अबोध बच्चे को इस तरह पीट रहे हैं ? एक तो मेहनताना कम, उस पर इतनी क्रूरता ?" भुवन बाबू के इस उग्र रूप को देखकर वह पीछे तो हट गया, मगर ऊँचे स्वर में बोलने लगा – "अरे इतनी दया है, तो ले जाएँ इसे ! समाज सुधारक बनते फिरते हैं !"

"मैं इसे ले जाऊँ या ना ले जाऊँ, मगर तुझे जेल जरूर भेजवाऊँगा, समझ लेना।"

'"यह मेरा नौकर है। मैं ही इसे खिलाता-पिलाता हूँ, पिछले माह ही इस हरामखोर पर दो सौ रुपये खर्च किये, बीमार हो गया था, और----और आप कौन है बीच में बोलने वाले ?' – चीखते हुए रेस्तराँ का मालिक कुछ आगे आ गया।

"मैं कोई भी हूँ, मगर तुम्हें जेल जरूर भेजवाऊँगा, बालक को श्रमिक बनाने के अपराध में !" – एक ही साँस में भुवन बाबू चीख कर बोले। उनकी भृकुटी तनी हुई थी, चेहरा लाल हो गया था। तुरंत ही चंदन के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा –'"रो नहीं बेटा, तुम्हें न्याय दिलवाऊँगा।"'

चंदन ने निरीह आँखों से उन्हें देखा और उनके पैर पकड़कर रोते हुए कहा – '"साहब जी ! मुझे न्याय नहीं, रोटी चाहिए।"' वह अपने सिर को, उनके पैरों पर टिकाकर रोता रहा। रेस्तराँ के मालिक को जैसे साँप सूँघ गया। पत्थर हृदय, दो शब्द मात्र से पिघल गया था। वह विमूढ़ होकर वहीं खड़ा रहा।

भुवन बाबू की आँखें नम हो गयीं। आँसू पोछते हुए उन्होंने चंदन को गले से लगाकर, भरे कंठ से कहा – "चल पगले ! जैसे चार जन रहते हैं, पाँच भी रह लेंगे।" रेस्तराँ का मालिक को देखते हुए उन्होंने कहा--"सच ही कहा गया है कि वक्त के मारे इंसान को, इंसान भी मारने को तैयार रहते हैं। और-तो-और, कुत्ते तो और भी ज्यादा उस पर भौंकते हैं। रेस्तराँ का मालिक मूर्तिवत् वहीं खड़ा रहा और चंदन अपने आँसू पोछते हुए भुवन बाबू के पीछे-पीछे चल पड़ा।

ममता देवी को जब सारी घटनाओं की जानकारी मिली तो उन्होंने कहा – "बहुत अच्छा किया आपने, जो चंदन को अपने साथ ले आये।"

कुछ देर चंदन गुमसुम बैठा रहा, फिर उठा और रसोई घर में जाकर काम पर लग गया।

ममता देवी प्यार से बोलीं – "क्यों रे, तेरे बिना मेरा काम न होगा ?"

"होगा मालकिन लेकिन--- ।" वह आगे कुछ न बोल पाया।

"लेकिन क्या रे ? हम कमाने-खाने वाले, बहुत साधारण लोग हैं। समय के मारे हम भी हैं रे। इन्होंने बहुत पढ़ाई की, मोटी-मोटी किताबें आज भी रखी हुई हैं, मगर क्या पाया ? बस पेट भर खाना, वो भी साधारण- से- साधारण। स्वतंत्रता दिवस हर वर्ष मनाते हैं, मगर बेचारे ! मनमानी गुलामी सहते हैं। खैर छोड़---! यदि हम अमीर होते तो तुम्हें नौकर समझ लेते शायद, क्योंकि नौकर तो अमीरों के पास होते हैं न ? हम श्रमजीवी हैं रे ! चार-पाँच बच्चों को पाल सकते हैं, मगर एक नौकर नहीं रख सकते हैं। इसलिए आज से तू मेरा तीसरा बेटा, और-- और मैं तेरी माँ।"

चंदन की आँखों में आँसू छलक आये, अधर कँपकँपाने लगे। वह कुछ न बोल पाया। अपनी पत्नी की बातों से भुवन बाबू गद्गद हो उठे। चंदन के सिर

पर हाथ फेरते हुए कहने लगे –''सुन लिया न माँ की बात ?" तुरत ही गंभीर होकर बोले--- "हाँ !--- इतना अब औकात नहीं कि तुम्हें किसी प्राइवेट स्कूल में पढाऊँ, लेकिन सरकारी में दाखिला दिलवाऊँगा । तू पढ़, ध्यान से पढ़ । तुम्हारी लगन और ईश्वर के आशीर्वाद से तेरी पढ़ाई जरूर रंग लाएगी---विश्वास रखना !''

छोटी-छोटी बातें भी कभी-कभी जीवन-पथ की दिशा और सोच की धारा को बदल देती हैं । पढाई की बात को वह भूला नहीं । चंदन की मर्मभेदी याचना ने रेस्तराँ के मालिक को झकझोड़ कर रख दिया था, जिसके कारण वृक्ष-सदृश सख्त जीवन से निर्दयता के जीर्ण पत्ते झड़ चुके थे ।

भुवन बाबू तथा ममता देवी की उदारता बीज तुल्य थी जो उसके कोमल हृदय में अंकुरित होने लगी । कालांतर, वह अंकुर बढ़ता गया और आज-----! हरे-हरे विशाल वृक्ष पर कर्तव्य के मधुर फल लगे थे । ममता देवी बड़े शान से उसका परिचय देतीं – ''यह मेरा तीसरा बेटा है !"

पाँव रोटी वाला

एक मूरत, मिट्टी की बनी हुई - आज भी कई वर्षों की पुरातन जड़ी चादर ओढ़ी मेरे अलमारी में यथावत् रखी हुई है। मुझे याद है - दीपावली के दिन जब मैं अपनी दादी के साथ खिलौने, लावा-फरही वगैरह खरीदने गयी थी तो इस मूरत को मैंने खिलौने की एक दुकान में देखी थी। करीब बारह इंच की लंबी, एक बूढ़े की मूरत ! गोरा रंग, मिट्टी के ही बने सफेद कुर्ता- पजामा में, रेसे की सफेद दाढ़ी और मूँछें-- नदारत। सिर से लेकर कंधे तक लहराते सफेद बाल ! और हाँ, सबसे अधिक आकर्षित कर रही थी -- धर और सिर के बीच--लगी स्प्रिंग, जिसके कारण उसका सिर हवा के हल्के झोंके से भी अविरत रूप से हिलता रहता। उस मूरत को मैं उत्सुक होकर देखती रही और अनायास मेरे मुख से निकल पड़ा - "दादी-दादी, वह देखो, पाँव रोटी वाला !" मैं उस मूरत को उँगली दिखाकर इंगित कर रही थी, मगर मेरा बाल मन उसे लेने के लिए लालायित था। मैं उसे लेने की जिद करने लगी। दादी ने भी मुसकराकर उस मूरत पर एक दृष्टि डाली, किंतु उसे खरीदने से इंकार कर गयी। मेरी जिद पर उनकी कुछ घुड़कियाँ लादी जरूर गयीं, किंतु उनकी घुड़कियों पर मेरी जिद हावी रही और न चाहते हुए भी महँगा खिलौना उन्हें खरीदना पड़ा। मेरे लिए यह खिलौना अनमोल था। मूरत के सिर को हिलाती और खुशी से बोलती ----"पाँवरोटी वाला--आ--आ- !"

हाँ, वह 'पाँव रोटी वाला' की ही मूरत थी, दिखने में बिलकुल उसी की तरह ! या कहें, मैंने उस मूरत को 'पाँव रोटी वाला' का प्रतिरूप दे दिया था, क्योंकि तब वह पाँव रोटी बेचने नहीं आता था, जिसे मेरी आँखें ढूँढ़ती थीं। इस मूरत के समान ही वह था। लंबा कद, चौड़ा बदन और हर वक्त हिलता सिर !

गोरा रंग, सफेद दाढ़ी और सिर पर सफेद बाल, जो कंधे तक झूलते रहते थे। आँखें छोटी मगर बात्सल्य रस भरी हुई ! पोपल मुँह ! और जब गली में आकर, अपने आने की सूचना देते हुए लयबद्ध आवाज में कहता - "पाँव रोटी वाला--आ--आ, तो अनायास ही मैं खुशी से चीख कर उसके पास आकर पूछती--- "ए पाँव रोटी वाला ! आ गये ?"

गली में खड़े किसी व्यक्ति की सहायता से, अपने सिर पर से बक्सा उतारकर वह वहीं बैठ जाता और बड़े इतमीनान से मुसकराकर कहता -"हाँ, आ गया बिटिया।" विशेष बात यह थी कि इतना बूढ़ा होने के बाद भी, इसकी कमर झुकी नहीं थी। समय को चुनौती देते हुए वह कार्यरत था। हिलते सिर पर एक बड़ा बक्सा रखा रहता - बिल्कुल चमचमाता हुआ--- उसके गोरे रंग और सफेद वस्त्रों से मेल खाता हुआ। कँपकँपाते सिर पर बक्सा भी हर वक्त हिलता रहता था, जिसे वह बड़ी सावधानी के साथ, हाथों से पकड़कर चलता था।

"आज क्या है ?" - प्रतिदिन उत्सुकता के साथ चहककर मैं यही पूछती और वह भी प्रतिदिन एक ही बात दोहराता - "पाँव रोटी, चमचम बिस्कुट, केक, मक्खन भरा बिस्कुट, डंटा बिस्कुट।" जब- तक हमदोनों के बीच प्रश्नोत्तर होते, मोहल्ले के अन्य लोग भी वहाँ जमा हो जाते और अपनी-अपनी पसंदानुसार खरीदारी करते।

मेरी माँ गली में नहीं निकली और पिता जी को चाय के साथ बिस्कुट खाने का कोई शौक नहीं था; इसलिए मेरे घर से खरीदारी नहीं होती, मगर मैं वहाँ खड़ी होकर अन्य लोग की खरीदारी जरूर देखती। मुझे देखकर पाँव रोटी वाले ने एक दिन कहा था - "बिटिया, अपने पिताजी को कहो, वह भी तुम्हारे लिए कुछ खरीद लें।"

"नहीं, अभी पैसे नहीं हैं, जब होंगे, खरीद देंगे।"- मेरा संक्षिप्त उत्तर था। बात सही भी थी। पिता जी की नौकरी नहीं थी। घर के किराया से ही दादी को घर चलाना पड़ता था, इसलिए सुबह का नाश्ता बिस्कुट के बदले रोटी और चीनी-पानी का घोल या दाल-रोटी ही निश्चित था, किंतु पाँव रोटी और बिस्कुट को ध्यान में रखकर रोटी ही बड़े संतोष से खा लेती।

मेरी बातों को सुनकर पाँव रोटी वाले के होंठों पर छायी मुसकान लुप्त हो गयी थी और मेरे प्रति छलकती बात्सल्य धारा जबरन् रोककर अपने हिलते सिर को उसने झुका लिया था।

इसका एक कारण था। एक दिन मैंने उससे पूछा था- "ए पाँव रोटी वाला, बिस्कुट तो अच्छे है न ?" उसने हँसकर कहा था - "हाँ, बहुत अच्छे हैं, इसीलिए तो सारे बिक जाते हैं।"

"और यह मक्खन भरा बिस्कुट ?"

"बिल्कुल ताजा है !"

"तब ठीक है।"

"लेना है ?"

"अभी नहीं।"

"तो क्यों पूछ रही हो बिटिया ?"

"बाकी लोग तो लेंगे न ? उन्हें ताजा और स्वादिष्ट बिस्कुट मिलना चाहिए कि नहीं ? खराब खाने से बीमार पड़ जाएँगे न ! इसीलिए पूछा I

पाँव रोटी वाले ने स्नेह सिक्त आँखों से मुझे देखते हुए पूछा था---- "देखेगी कितने अच्छे बिस्कुट हैं ?"

"हाँ, वे तो दिख ही रहे हैं !" - मैंने अनमने ढ़ंग से कहा। वह खिलखिलाकर हँस पड़ा और मक्खन भरा एक बिस्कुट मुझे थमाते हुए बोला - "यह ले, खाकर बता कि बिस्कुट कैसे हैं।" बाल मन तो प्रेम का उपासक होता है, उसमें मान-स्वाभिमान जैसी बातें नहीं होतीं। मैं उसके पास बैठ गयी और बिस्कुट लेकर खाती हुई आँखों को गोल-गोल घुमाती हुई मैं बोली - "हूँ-- ! बहुत अच्छे हैं, मीठे-मीठे !"

"ठीक है, अपनी इच्छानुसार बिस्कुट रोज चखकर तू बताना कि ये कैसे हैं, ठीक है ?"

"हाँ ठीक।"

पाँव रोटी वाला हँसते हुए, प्यार से मेरे सिर को सहलाने लगा। अचानक मेरे पिता जी की नजर मुझ पर पड़ी। मुफ्त में बिस्कुट खाते मुझे देख वे वहाँ आ गये और पाँव रोटी वाला पर बरस पड़े - "मुझे भिखारी समझ रखा है, जो मेरी बेटी को बिस्कुट दान दे रहे हैं ?" अपनी कमी को उन्होंने स्वाभिमान का ढाल बना लिया था। वहाँ पर एकत्रित मोहल्ले वाले उन्हें समझाने का प्रयास करते रहे, किंतु उनका चीखना जारी रहा। मैं सहमी वहीं खड़ी रही। मुझे इस बात का डर नहीं था कि पिता जी मुझे पीटेंगे, बल्कि इस बात का डर था कि कहीं पाँव रोटी वाला यहाँ आना न छोड़ दे। मुझे दुख भी हो रहा था कि मेरी लोलुपता के कारण बेचारा पाँव रोटी वाला बात सुन गया। पिता जी की चीख दादी के कानों में पड़ी। वह वहाँ दौड़ी आयी और पिता जी के क्रोध का कारण मालूम होने पर वह अपने पल्लू में बँधे पैसे निकालकर बिस्कुट का दाम देती हुई पिताजी को धिक्कारती हुई बोली - "दुलार को भीख न कहो, दोनों में अंतर क्या है-- पर तुम्हें क्या पता !" बड़े विनीत स्वर में पाँव रोटी वाले को दादी बोली - "भइया ! इसे रोज एक बिस्कुट दे देना, मैं जोड़कर पैसा दे दिया करूँगी।" पाँव रोटी वाला अपने हिलते सिर को

उठाकर, निरीह आँखों से दादी को देखने लगा। उसके साथ पिताजी का ऐसा कठोर व्यवहार, मोहल्ले वालों को भी बुरा लगा, मगर सभी चुप थे।

दादी के कहे अनुसार पाँव रोटी वाला मुझे बिस्कुट देने का प्रयास करता, मगर मैं मना कर देती - "नहीं, आज बिस्कुट अच्छे नहीं दिखते।"

"तो यहाँ क्यों आयी बिटिया ?" - दुखी होकर वह पूछता और मैं कहती-- "आप अच्छे हैं, इसलिए।"

मेरा जवाब सुनकर उसकी आँखें भर आतीं। तब से मानो हमदोनों ने अपने मन को बलवत् बाँधकर निश्चय कर लिया था कि पाँव रोटी वाला न मुझे बिस्कुट देगा और न मैं लूँगी। लेकिन यह निर्णय उसके लिए कष्टप्रद था। बिक्री के बाद जब वह जाने लगता तो मुझपर एक दीन दृष्टि जरूर डालता। मैं उसे देखने मात्र से ही एक अद्भुत मिठास का अनुभव करती और उसके आने पर उसकी आवाज को उसी लहजे में दोहराकर खुशी से दौड़ पड़ी - "पाँव रोटी वाला--आ--आ, पाँव रोटी वाला--आ--आ-- !" उसे देखकर चहकती हुई फिर-से वही प्रश्न पूछती - "ए पाँव रोटी वाला, आ गये ?"

आज अनुभव करती हूँ कि मेरी मीठी बोली सुनकर, वह अपने आप में कितना मरता होगा ! जब वह मेरी मीठी बोली के बदले अपना मीठा बिस्कुट न खिलाता होगा तब उसे अपनी जिंदगी कितनी कड़वी लगती होगी ! हो सकता है, वह इस मोहल्ले में कदम भी रखना न चाहता हो, किंतु उसकी अपनी मजबूरी थी कि यहाँ उसकी कमाई अच्छी होती थी, इसलिए इस मोहल्ले को छोड़ भी नहीं सकता था।

होली के तीन दिन पहले वह आया था। पूर्ववत् मैंने चहककर चीख मारी - "ए पाँव रोटी वाला--आ--आ--! आ गये ?"

अपने सिर पर रखे बक्से को उतरवाकर वह बैठ गया - "हाँ बिटिया, आ गया।" मेरे दोनों हाथों में रंग सना था। पीछे हाथ करके, धीरे-धीरे मैं उसके पास गयी और उसके गालों पर रंग लगा कर खुशी से चीखने लगी - "होली है--ए--ए, होली है--ए--ए।" मुझे इस तरह चीखते और हँसते देख दादी घबड़ा गयी कि कहीं मैंने पाँव रोटी वाले को रंग तो नहीं लगा दिया ? अपने अनुमान को सही देख, उसने अपना सिर पीट लिया - "हे भगवान, अब क्या होगा !" क्योंकि, एक दिन पहले ही दादी ने देखा था कि मोहल्ले के एक मनचले ने किसी और पर रंग डाला था, किंतु रंग के कुछ छीटें पाँव रोटी वाले पर पड़ जाने मात्र से ही वह उस पर कितना गुस्साया था ! एक-से-एक गालियाँ भी सुनाई थीं। झगड़ा का अच्छा-खासा प्रारूप तैयार हो गया था। उस मनचले की तरफ से मोहल्लेवालों ने उससे माफी माँगी थी।

डरी-सहमी दादी, हाथ जोड़कर पाँव रोटी वाले को बोली--- "भइया ! माफ करना, बच्ची है। यह न मजहब जानती है, नाहीं धर्म के अनुसार रीति-रिवाज।"

"इसलिए तो इसका रंग हृदय पर चढ़ गया बहन ! रंग लगे तो ऐसा कि रोज होली का अहसास हो !" - मुसकराते हुए उसने कहा। भावुकता वश उसकी आँखें नम हो गई थीं I

पाँव रोटी वाला सच्चा मुसलमान था। वह इस बात का दम भरता था कि वह चार वक्त का नवाज अदा करता है। एक दिन दोपहर के समय वह बकाया वसूली के लिए आया। बकाया माँगने पर कुछ लोग ने उसे दोपहर में आने को कहा था। उसे देखकर मैं खुशी से दौड़ पड़ी। उसके पास जाकर चहककर पूछ बैठी - "ए पाँव रोटी वाला ! आपका वह बक्सा कहाँ है ?" मैंने देखा--उसका चेहरा मुरझाया हुआ था। गोरे चेहरे की झुर्रियाँ एक-दूसरे

से सिमट पड़ी थीं और बुझी-बुझी आँखों में अपार दर्द समाया था। उसकी ऐसी दशा देखकर मेरी मुसकान गुम हो गयी और मैं चुपचाप वहीं खड़ी रही।

"तुम्हें क्या मतलब है बिटिया ? तू तो कुछ लेती ही नहीं, जबकि तुम्हारी दादी ने देने को कहा भी है।" - मेरे सिर को सहलाते हुए उसने कहा। उसकी स्नेह लिप्त बोली मेरे अंदर मानो ऊर्जा का संचार कर गयी। तुरत ही चहकती हुई बोली --"नहीं न, तुम बुद्धू हो, लेकिन मैं नहीं हूँ न ?"

"अच्छा ! तुमने कौन सी बुद्धिमानी का काम किया ?"

"दादी के पैसे बचाकर, ताकि वह दवा खरीदती रहे !"

पाँव रोटी वाला चौंक पड़ा। मेरी बातों से उसकी आँखें भर आयीं। रुँधी आवाज में बोला - "तू तो सच में बड़ी बुद्धिमानी का काम कर गयी बिटिया ! लेकिन बताऊँ ? मैं बुद्धू नहीं हूँ रे, अभागा हूँ क्योंकि तुम्हारी मीठी अनमोल बोली सुनकर भी मन खुश नहीं होता, रोता है ! तुम्हें बिस्कुट नहीं खिला पाता न ! इसलिए। मगर एक सच्ची बात कहूँ बिटिया ? अब मैं स्वयं भी नहीं खाता क्योंकि जब भी मुँह में रखता हूँ, मुझे लगता है कि तू पूछ रही है - "ए पाँव रोटी वाला, बिस्कुट कैसे हैं ? मीठे और स्वाद के हैं न ?"

उसी वक्त मेरी दादी बरामदे में आ गयी। पाँव रोटी वाले को देखकर बोली - "अच्छा हुआ भइया आप अभी आ गये, सुबह में काम-काज से छुट्टी ही नहीं मिलती ! हाँ, तो अब तक के कितने पैसे हुए ?"

"एक भी नहीं बहन, बिटिया ने कभी बिस्कुट लिये ही नहीं।"

सुनकर दादी चौंक गयी। उसे समझते देर न लगी कि मैंने बिस्कुट लेने से मना क्यों किया। वह मुझे दीन दृष्टि से देखने लगी। मैंने झट से कहा - 'आजकल बिस्कुट ताजे नहीं होते न दादी, इसलिए नही लेती।" दादी की आँखें भर

आयीं। मेरे सिर को सहलाती हुई बोली---"बबूल के पेड़ पर मीठे आम कैसे लग गये---- भगवान जाने !"

अचानक वर्षा होने लगी। पाँव रोटी वाला मेरे बरामदे में आकर बैठ गया। आगंतु को छोड़कर दादी वहाँ से कैसे जाती भला ! इसलिए उससे बातें करने लगी। बड़े सहज ढंग से दादी ने पूछा - "आपके घर में कौन-कौन हैं ?"

"दो बेटे, दो बहुएँ, उनके बच्चे, और----- ।"

"आच्छा ! आपके बेटे हैं ?" आश्चर्य व्यक्त करते हुए दादी ने बीच में ही बात काट दी।

"बहन, अल्लाह ने दो-दो बेटे दिए हैं और दोनों नौकरी करते हैं।" बड़े गर्व से उसने कहा।

"बेटे नौकरी करते हैं ! तब क्यों बुढ़ापे में अपने- आप को कष्ट दे रहे हैं भइया ? क्या बेटे लगाव नहीं रखते ?"

"न-न बहन, बेटे तो खूब लगाव रखते हैं। हज यात्रा के लिए रुपये का जोगार भी उन्हीं दोनों ने ही किये, मगर मेरी किस्मत ही मेरे साथ नहीं। क्या करूँ !"

"कैसे ?" - दादी ने आश्चर्य से पूछा।

उसने कहा - "बहन, आज तक मैं अपनी राम कहानी स्वयं से दोहराता आया हूँ, आज आपने पूछकर मेरा जी हल्का कर दिया। वैसे बताता भी तो किसे ? किसी ने पूछा भी तो नहीं। किसे इतनी फुरसत है ? आपने पूछा है तो बताता हूँ। मवाद निकलने पर जख्म पीड़ा दायक नहीं होते। शायद मेरा जख्म भी कुछ-कुछ सूख जाए ! उसने बताया - "मैं मोहम्मद अब्बास हूँ।"

बड़े इतमीनान से दादी बोली - "हाँ---मालूम है कि आप हिंदू नहीं हैं लेकिन आपकी बोली से तो नहीं लगता कि आप----।"

पीड़ा लिप्त एक हल्की मुसकान उसके होंठों पर तिर गयी। बात काटते हुए वह बोला - खून तो सबमें एक ही है न बहन ! बोली भी एक हो सकती है ! परिवार में जन्मा बच्चा, उसी परिवार की भाषा बोलता है न ? मेरा परिवार भी तो हिंदू मोहल्ला ही रहा। फिर इसकी बोली कैसे न जानूँ ? मगही में कभी बात करके देखें, तब पता चलेगा ---"ए पाँव रोटी वाला, हिंया आवा हो--ओ-ओ, बिस्कुट लेवे ला हई !" - उसने बाँग देते हुए एक उदाहरण प्रस्तुत किया और फिर हँस पड़ा। दादी को भी हँसी आ गयी। दोनों कुछ पल हँसते रहे, फिर अचानक पाँव रोटी वाला मौन हो गया। उसके चेहरे पर उदासी छा गयी। बोला - पहले मैं यहीं बिस्कुट फैक्ट्री में बिस्कुट बनाने का काम करता था। मेरी पत्नी मेरा बड़ा साथ देती थी। अपने लिए उसने कुछ चाहा ही नहीं, बस बच्चे और मेरे इर्द-गिर्द ही उसकी दुनिया थी। उसे पेट में दर्द रहता था, किंतु यह बात उसने कभी बतायी नहीं, क्योंकि वह नहीं चाहती थी कि घर-खर्च के पैसे को काटकर उसकी बीमारी में रुपये लगे। बस, उसकी यही सोच मेरे लिए दुर्भाग्य बन गया। उसकी हालत जब-तक मेरे सामने आयी, तब-तक बहुत देर हो चुकी थी। दवा तो उसने कभी नहीं खायी, किंतु मुझे जुदाई का जहर खिलाकर चली गयी, वो भी तिल-तिल मरने के लिए। पाँव रोटी वाला कुछ पल के लिए शांत हो गया। अंगोछे से आँसू पोछते हुए, थूक घोंटकर बोला - "उस वक्त मेरे दोनों बेटे बड़े थे, लेकिन मेरी बिटिया दो वर्ष की ही थी। बड़ी मुश्किल से मैंने अपने बच्चों को पाले और उन्हें पढ़ाये-लिखाये। मेरे दोनों बेटे नौकरी करने लगे, तब उन्होंने मेरी नौकरी छुड़वा दी। उनकी पितृ-भक्ति देखकर मन गद्गद हो उठा। तब मेरी बिटिया पढ़ रही थी। मेरे बेटों ने उसकी शादी के लिए लड़का भी देख रखा था, लेकिन उसे किसी और से प्रेम था। उसने किसी को बताया नहीं और घर से भागकर शादी कर ली। फिर क्या था, मेरे बेटों ने उससे नाता तोड़ लिया। लेकिन मैं तो एक पिता ठहरा---! उसकी माँ के न रहने पर

मातृत्व मोह भी मुझ में भरा था। बेटों को बिना बताए ही मैं चुपचाप उसके घर के इर्द-गिर्द चक्कर लगाया करता ताकि मैं उसे देख लूँ। उसे देखकर मैंने अनुमान लगाया कि वह खुश नहीं है, क्योंकि जब भी वह खिड़की से मुझे देखती, उसकी आँखें भरी रहतीं। होंठ 'अब्बू' कहने के लिए बेताब रहते। मेरा अनुमान सही निकला। इसी बीच मेरे बड़े बेटा ने बड़े उत्साह से कहा - "अब्बू, आप इसी वर्ष हज-यात्रा के लिए जाएँगे, मैंने रुपयों की व्यवस्था कर दी है।" मेरा ध्यान अल्लाह से ज्यादा अपनी बिटिया पर लगा था। मैंने कहा - "अल्लाह तो मेरे साथ हैं; तभी तो दुख में वे धैर्य और साहस देते रहे हैं, वरना मैं तेरी अम्मी के बिना जी पाता ?"

"इसीलिए तो अगला जीवन सँवार लो अब्बू, ताकि अगले जीवन में दुख आये ही न !" - बड़े बेटे ने हँसकर कहा। बात तो उसने सही कही थी किंतु अगले जनम को सँवारने के लिए इस जनम में उमड़ रही ममता का क्या करता ! हज यात्रा में काफी लंबे समय लगते हैं। उतने दिन अपनी बिटिया को कैसे देख पाता ! संतुष्टि केवल सुख में साथ हँसने से ही नहीं, दुःख में साथ रोने से भी होती है। अचानक मुझे मालूम हुआ कि मेरी बिटिया बहुत बीमार है, और उसके घरवाले उसे नजरंदाज कर रहे हैं। सुनकर मेरे हृदय में दुख का तूफान उमड़ पड़ा। शून्य आँखें तपन के कारण खुली-की-खुली रहतीं। बिटिया की स्थिति मैंने अपने बेटों को बतायी। अल्लाह ! उनपर कोई असर न हुआ। बात बदलते हुए बोले - "हाज-यात्रा के लिए जाते समय हाथ में जो रुपये दूँगा, उसे सँभाल कर रखना और हाँ, अगले सप्ताह ही निकलना है इसलिए----।"

"तेरी बहन मर जाएगी रे !" - बात कहते हुए मैंने कहा।

"हमारे लिए तो वह कब की मर चुकी है।" - चिढ़कर उन्होंने कहा।

"लेकिन मेरे लिए तो नहीं न मरी बेटा, क्योंकि मैं उसका अब्बू ही नहीं, अम्मी भी हूँ।"

"तो क्या चाहते हो अब्बू ?"

"मुझे कुछ आशा बँधी। विनीत होकर कहा - मेरे हज-यात्रा के लिए जो रुपये हैं, उससे उसका इलाज करा दे ! मेरे साथ-साथ तुम्हें भी सवाब (पुण्य) मिल जायगा !"

"मिले हुए सवाब से हम बदनामी का दाग तो नहीं धो सकते न ?" खीझकर छोटे बेटे ने कहा। निरीह आँखों से उसे देखते हुए मैंने कहा--"कर्तव्य निर्वाह करने वालों को बदनामी का डर नहीं रहता रे ! वैसे भी, प्रेम और ममता के प्रकाश में बदनामी का दाग छिप जाता है।"

कुढ़कर उन्होंने मुझे रुपये दे तो दिये, किंतु मुझसे बातें नहीं करने लगे। कई दिनों के भूखे को यदि भोजन मिल जाए, तो वह यह नहीं देखता कि यह भोजन कूड़े पर का है या दान स्वरूप दिया गया रसोई घर का।

उसे अपने पास ले आया और उन रुपयों से मैं अपनी बिटिया का इलाज कराने लगा लेकिन, वह अपनी गुनाहों के लिए क्षमा माँगकर सदा के लिए चली गयी। मुझे इस बात से बड़ा दुख हुआ कि मेरे बेटों से उसकी कब्र पर दो मुट्ठी मिट्टी भी न डाली। उस वक्त मेरी नातिन दो वर्ष की थी। अपनी बहन के प्रति उनके कठोर व्यवहार को देखकर मैं समझ गया कि अपनी नातिन का पालन-पोषण मुझे ही करना होगा। फिर क्या था ! उसी बिस्कुट फैक्ट्री में काम के लिए चला गया, लेकिन उस वक्त वहाँ काम करने वालों की जरूरत न थी। तब मैं वहीं से बिस्कुट लेकर बेचने लगा। आज बीस वर्ष हो गये, अब मेरी नातिन बाईस वर्ष की है बहन ! बिल्कुल मेरी बेटी का प्रतिरूप ! - पाँव रोटी वाले की आँखें चमक उठीं। बोला - उसकी शादी निश्चित हो गयी। इतने वर्षों की कमाई से उसे खूब देकर विवाह करूँगा।

"कब शादी है ?" - दादी के उदास चेहरे पर राहत का भाव उभर आया था ।

"बस, अगले ही माह में ! इसीलिए तो अभी दोपहर में रुपये वसूली के लिए निकला हूँ, कुछ उधार भी लगे हैं न!"

कुछ सोचकर उसने धीरे से कहा - "बहन, अब मैं न आऊँगा, लकवे के कारण रोती गरदन कब से बोझ ढोने से इंकार करती रही , लेकिन क्या करता ? इस बोझ से ज्यादा तो जिम्मेवारी का बोझ था न, इसलिए बक्से का बोझ कभी महसूस ही न किया ।"

वर्षा रुक गई थी । पाँव रोटी वाला उठा और बोला - "अभी कथा का छः अध्याय ही पूरा हुआ है, सातवाँ बाकी है - नातिन की शादी ! आशीर्वाद दें कि यह अध्याय निर्विध्न पूरा हो और सुखद हो ।"

पाँव रोटी वाला चला गया, मगर मैंने देखा - दादी वहाँ पर चेतना-शून्य हो काफी देर तक बैठी रही ।

दो दिनों बाद पाँव रोटी वाला मेरे घर आया । बरामदे के दरवाजे को पीटकर, कुछ संकुचित भाव से खड़ा था । उस दिन पिता जी ने दरवाजा खोला । पिताजी को देखकर वह सहम गया और गिड़गिड़ाते हुए बोला - "साहब, आज के बाद न आऊँगा, बिस्कुट बेचना छोड़ दिया है, बस प्रेमवश बिटिया के लिए कुछ बिस्कुट लाया हूँ, देने दें । मीठी और अपनापन भरी बोली के सौगातों से उसने मेरा जीवन भरा है, मैं भी तो कुछ उपहार दे दूँ। पिताजी कुछ न बोले । उनका सिर पश्चाताप से झुक गया । पाँव रोटी वाले की आवाज सुनकर दादी भी वहाँ आ गयी थी । मेरी नजर जब उसपर पड़ी तो खुशी से चीखकर मैंने कहा - "अरे, पाँव रोटी वाला----!"

मेरी बोली सुनकर उसके होंठ कँपकँपाने लगे ।

"सिर पर बक्सा कहाँ है ?" - मैंने चहक कर पूछा ।

"अब बोझ हट गया बिटिया।" - कँपकँपाती आवाज में उसने कहा।

"तो बिस्कुट ?" - आश्चर्य से हाथ घुमाते हुए मैंने पूछा।

उसने एक थैला मेरी ओर बढ़ा दिया। मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए प्यार से बोला - "अब न बेचूँगा, तू खाती ही नहीं है।" मेरे चेहरे की खुशी पल-भर में उदासी में बदल गयी। मैं उसे प्रश्न भरी नजरों से देखने लगी।

उनकी आँखों से आँसू गिरने लगे। हँसने का अभिनय करते हुए उसने कहा - "ले, खा लेना, ये सब तेरे लिए है।"

मैंने पिताजी की ओर देखा। उन्होंने मुझे लेने के लिए ज्योंही इशारा किया - झट थैला लेकर मैंने पूछा - "बिस्कुट तो ताजे हैं न ? और मीठे भी ?

मेरे प्रश्न सुनकर वह रो पड़ा। आँसू पूरित आँखों से वह अपलक मुझे निहारते हुए, बिना कुछ बोले ही चला गया। और-----फिर कभी न आया।

गुब्बारा

"दीनू दादा--आ--आ ! देखिए ! मेरे हाथ में क्या है !" खुरपा से घास उखाड़ते-उखाड़ते दीनू के हाथ रुक गये और वह अपनी गरदन घुमाकर गुड्डू की ओर देखने लगा। उसकी बाल उत्सुकता और प्रसन्नता को देखकर उसका चित्त खिल उठा---"अरे वाह ! बबुआ के हाथ में बड़ा-सा गुब्बारा !"

"हाँ, गुब्बारा ! उड़ने वाला !"

"बहुत अच्छा है !"

"हाँ !"---गुड्डू के चेहरे पर असीम प्रसन्नता झलक रही थी। किसी विशेष उपलब्धि पर भी लोग इतना खुश न होते होंगे, जितना खुश एक गुब्बारा पाकर वह हो रहा था। क्यों न होता ! खिलौना तो बच्चों का संसार है !

"पता है दीनू दादा ? किसने दिया ?" चहकते हुए उसने पूछा।

"ना ! किसने दिया बबुआ ?"

"पापा के साथ बाजार गया था न ? वहीं किशोर अंकल ने गुब्बारा खरीद कर मुझे दिया। और देखो-देखो ! गुब्बारे वाले अंकल हैं न ! उन्होंने ही मेरी कलाई में इसे बाँध दिया ताकि यह उड़े नहीं !"

"बहुत अच्छा बबुआ ! अब आप जाएँ, जरा काम कर लूँ।" दीनू ने फिर से हाथ में खुरपा लिया ही था कि चंद्र मोहन लाल की भड़कीली आवाज़ सुनकर उसके हाथ रुक गये। वे गुड्डू पर झिड़क रहे थे---"दौड़े-दौड़े क्यों चले आये ? साथ नहीं आ सकते थे ? खुली सड़क है और दौड़े जा रहे थे !"

"दीनू दादा को दिखाना था न ? इसीलिए !"

"अपने पापा के साथ आकर भी तो दिखा सकते थे न बबुआ ? सड़क पर दौड़ कर नहीं आना चाहिए न ?" दीनू ने बड़े प्यार से कहा।

अपने पापा की झिड़की और दीनू दादा की नसीहत को नजरंदाज कर हवा में हिलते-डुलते गुब्बारे को देखने में वह मगन था। चंद्र मोहन लाल कुछ पल वहीं खड़े, अपने बेटे को घूरते रहे। घर के अंदर जाने के लिए मुड़े ही थे कि दीनू बोला---"बच्चे को इतना डाँटना नहीं चाहिए। कोमल हृदय होता है न ! बड़े, जो बच्चों के साथ रहते हैं न, उन्हें इसकी क्रिया और उस पर ध्यान रखना चाहिए।" चंद्र मोहन लाल कुछ न बोले मगर मन-ही-मन सोचने लगे---"लो ! मैं गुड्डू को पुकारता रहा और वह खुली सड़क पर दौड़ता रहा----फिर भी मेरी ही गलती है ! इनके दुलार में बिगड़ गया है !"

उनका मन क्षुब्ध हो उठा। अचानक उन्हें ध्यान आया---मेरे बचाव के लिए भी दीनू काका मेरे पिता जी से ऐसा ही कहते थे। वह मैं ही था न ! बचपन में मैंने एक दिन गुस्से में आकर पिता जी की घड़ी फेंक दी थी ! पिता जी ने मुझे पीटा था और मेरे साथ दीनू काका भी रो पड़े थे। और क्या कहा था---"बबुआ की चिंता है वरना यहाँ काम करना छोड़कर कब का चला जाता।"

बीती बातों को याद कर उनके होंठों पर स्नेह-सिक्त मुसकान छा गयी। बिना कोई गलती किये ही, दीनू की बातों का समर्थन करते हुए वे अपना सिर हिलाने लगे।

धागे से बँधा गुब्बारा आकाश में हिचकोले खा रहा था। गुड्डू की आँखों में चमक थी और होंठों पर हँसी, जो रुक-रुककर खिलखिलाहट में बदल जाती। अचानक !----कलाई से बँधा धागा ढीला पड़ गया और ऊर्ध्वगामी गुब्बारा ! गुड्डू का न रहा। और तब---हृदय विदारक करुण चीख सुनकर दीनू और चंद्र मोहन लाल गुड्डू के पास दौड़े आये। उसके दोनों हाथ ऊपर थे और वह चिल्ला रहा था---"गुब्बारा ! गुब्बारा ! मेरा सुंदर गुब्बारा उड़

गया ! चंद्र मोहन लाल प्यार से समझाते रहे---"कोई बात नहीं बेटा ! दूसरा गुब्बारा खरीद दूँगा।"

लेकिन वह अविराम रोता रहा---"नहीं ! मुझे वही गुब्बारा चाहिए। लाल और हरे रंगों वाला !"

"इससे भी बढ़िया खरीद दूँगा, बस रो मत !"

"नहीं---- यह बढ़िया है ! मुझे यही चाहिए।"

"अच्छा-अच्छा ! लाल और हरे रंगों वाला ही लाऊँगा।"

"हाँ ! ले लूँगा। मगर वह भी चाहिए।" वह चुप होने का नाम ही नहीं ले रहा था। दीनू जानता था कि चंद्र मोहन लाल का यह प्यार ज्यादा देर टिकने वाला नहीं है। कुछ देर बाद ही सब्र का बाँध टूटने वाला है और तब---! प्यार का नामो निशान न रहेगा। आरती के दीपक से भी आग लगते देर नहीं होती ! अचानक दीनू बोला---"बबुआ, गुब्बारा उड़ने पर रोना नहीं चाहिए ! यह तो भगवान के पास जा रहा है !" गुड्डू एकदम चुप हो गया। फिर---आकाश की ओर तेज गति से उड़ते हुए गुब्बारे को चुपचाप तब-तक देखता रहा, जब-तक वह आँखों से ओझल न हो गया। उसे चुप देख कर चंद्र मोहन लाल ने राहत की साँस ली और दीनू को प्रशंसा भरी नजरों से देखते हुए वापस घर के अंदर लौट आये। दीनू को अपनी बुद्धि पर बड़ा गर्व हुआ क्योंकि रोते हुए गुड्डू को चुप कराना इतना आसान न था। गुड्डू को चुप देख, वह अपने काम में पूर्ववत् लग गया।

"दीनू दादा !" आकाश की ओर देखते हुए धीरे-से गुड्डू बोला।

"हाँ बबुआ, कहिए !" खुरपा से घास उखाड़ते हुए दीनू बोला। गुड्डू जब कुछ न बोला, तब वह उसकी ओर देखने लगा --- उसके चेहरे पर अद्भुत शांति थी, मानो चंद्रिका अपनी पूरी शीतलता के साथ गंगा में उतर आयी हो

! और---उत्सुकता रूपी छोटे-छोटे तरंगों के कारण वह झिलमिला रही हो। बालपन की चंचलता विलुप्त हो गयी हो, बस, शेष था--निर्विकार मन ! मानो ग्रहण के पश्चात्, अपने निखरे सौंदर्य के साथ निर्भय होकर चंद्रमा आकाश में शोभ रहा हो !

"दीनू दादा ! गुब्बारा भगवान के पास चला गया ?"

"हाँ ! स्वर्ग में ! ऊपर ही तो है !"

"तब तो चिड़ियाँ उनसे मिलती होंगी ?"

नहीं बबुआ ! वहाँ तक जीते-जी कोई नहीं जा सकता।"

"केवल गुब्बारा जा सकता है ?"

"हाँ ! देखा नहीं ? आँखों से कैसे ओझल हो गया ?"

"तो क्या, भगवान मेरे गुब्बारे को देखेंगे ?"

"हाँ ! अपने शरण में आए हर-किसी को भगवान देखते हैं, और---और उनकी सुनते हैं !"

"ओ ! तब तो ठीक है।" पूर्ण संतुष्टि के साथ गुड्डू बोला।

चंद्र मोहन लाल को सभी सेठ जी कहकर बुलाते थे। जमीन चली गयी, मगर जमींदारी नहीं गयी थी। सुना जाता है कि इनके दादा जी एक जमींदार थे, किंतु बहुत ही उदार प्रकृति वाले। कितनों को सहायतार्थ धनराशि उन्होंने दी, मगर कभी वसूली न की। हाँ, बदले में लोगों का आशीर्वाद उन्हें भरपूर मिला, और वही आशीर्वाद, आज भी इस परिवार के साथ है। देश आजाद हुआ---जमींदारी प्रथा खतम हो गयी---और अब ! जीविका के लिए नौकरी जरूरी हो गयी, किंतु शान-मान वही था। माली, नौकर, मेहरानी---सभी थे। चंद्र मोहन लाल का मानना था कि जमीन के मालिक होने मात्र से कोई

जमींदार नहीं होता, जमींदारी तो खून में होती है। बात भी सही थी। आज भी रहन-सहन, खान-पान में किसी प्रकार की कटौती न करते। उनके खर्चीले स्वभाव के कारण उनकी पत्नी ने बड़े इतमीनान से एक दिन कहा था--"गयल वसंत, कोयलिया कइसे कूकी !" (बसंत चला गया, कोयलिया कैसे कूकेगी ?) चंद्र मोहन लाल को बुरा लगा मगर दबी जुबान में वे बोले---"कोयलिया खूब कूकी ! पीतांबरी फटकर भी पीतांबरी ही रही, मोटिया न होई !" और---तब से वह अपने पति के खुले हाथ की ओर देखती भी नहीं।

और दीनू काका----! चंद्र मोहन लाल की आँखें खुलीं और उन्होंने दीनू काका को देखा। उनके बंगले के पीछे, हाते में बने खपरैल घर में वे रहते थे। दीनू के पिता जी भी यहीं, उनके दादा जी की सेवा में थे। उस समय की बातें कुछ और थीं ! उनके दादा जी ठहरे नवाब ! बड़े-बड़े पदाधिकारियों का ताँता लगा रहता। किंतु उन सभी से मेल- मिलाप का मुख्य कारण था---अपने पराधीन देश में बहने वाली संभावित हवा की जानकारी रखना क्योंकि इन पदाधिकारियों का उठना-बैठना अंग्रेजों के साथ भी था। उनका मेल-मिलाप उनके बागीचे में बने एक आलिशान बैठक में होता, जिसके रख-रखाब पर दीनू के पिता जी ध्यान रखते। बागीचे में खूबसूरत फूलों को देखकर लोग दीनू के पिता जी की बागवानी को सराहे बिना नहीं रहते। दीनू के पिता जी ने भी पूर्ण आस्था और स्नेह से अपनी सेवा दी। और अब बारी आयी---दीनू की। इन्होंने चंद्र मोहन लाल को अपने गोद में खेलाया था। चन्द्र मोहन लाल पूर्ण सद्भाव के साथ दीनू को मान देते थे। अब नवाबी तो नहीं रही, किंतु फूलों का शौक न गया। जीर्ण शरीर लेकर पौधों की सेवा करते देख उन्होंने एक दिन दीनू को कहा था----"काका, अब आराम करो ! शरीर को इतना कष्ट क्यों देते हो ! मेहनताना की चिंता न करना, वह तो वैसे भी मिलता रहेगा। अस्सी पार कर चुके हैं, इतने कष्ट में काम करते देख हमें अच्छा नहीं लगता।

"न बबुआ---! मन को जब संतुष्टि मिले, तब शरीर का कष्ट पता नहीं चलता । रही बात मेहनताना की, तो अब इसकी जरूरत भी क्या है ! एक बिटिया है, आपलोग की मेहरवानी से उसकी शादी अच्छे घर में हो ही गयी ! भोजन का क्या ! दो-दो कुत्ते पाल रखे हैं आपने, तो क्या दिन-भर में चार रोटियाँ मेरे लिए न होंगी ?" अचानक उसके चेहरे पर उदासी छ गयी । विषाद की रेखाएँ उसकी ललाट पर उभर आयीं । सिर धुनते हुए वह बोला---"बस एक ही कमी रह गयी बबुआ----- !"

वह कुछ बोलता कि इसके पहले ही चंद्र मोहन थोड़ा चैंक कर पूछ बैठे---- "कौन-सी कमी काका ?"

"यही कि भगवान ने मुझे बेटा न दिया ! वरना----!" अपनी आँखों में कृतज्ञता भर कर चंद्र मोहन लाल उसे देखने लगे ।

शाम के पाँच बजे थे, मगर लू का प्रकोप अभी भी व्याप्त था । सूर्य की किरणें कुछ मलिन हो चली थीं किंतु अपनी उष्मता हवा को सौंप चुकी थीं । अपने सिर पर अँगोछा रख कर दीनू पौधे को दीन दृष्टि से देख रहा था । पौधे भी उष्म हवा के झकोरे से हिलते-डुलते मानो अपनी व्यथा सुना रहे थे । कुछ पल वहीं खड़ा होकर दीनू पौधों को देखता रहा, फिर कुछ हताश मन के साथ, एक पेड़ के नीचे बैठ गया । शायद वह बेर डूबने का इंतजार कर रहा था ।

"दीनू दादा---आ-आ !"---चहकती आवाज से उसका ध्यान पौधों पर से हट गया । देखा--गुड्डू उसकी ओर दौड़ा चला आ रहा था । दीनू की आँखें चमक उठीं । चमकती आँखों से दिखने वाला हर बच्चा बाल-गोपाल ही दिखता है, किंतु देखने वाले हर किसी के पास सूरदास की तरह भावाभिव्यक्ति की क्षमता नहीं होती । अनुभव करने की क्षमता भले ही सभी में हो, शब्दाभिव्यक्ति की कला हर कोई में कहाँ, जिसे नेत्रहीन होकर भी

महाकवि ने अपनी संपदा बना रखी थी ! दौड़ते हुए गुड्डू उसके पास आया और चहकते हुए बोला--"दादा ! पता है ? अगले महीने के दस तारीख को क्या है ?"

"क्या है बबुआ ?"

"मेरा जन्मदिन।"

"अच्छा ! तब तो खूब मजा आएगा !"

"हाँ ! मजा-ही- मजा ! अच्छे-अच्छे भोजन बनेंगे ! खूब सारा ! बहुत सारे लोग आएँगे, अच्छे-अच्छे कपड़ों में ! और--और मेरे कपड़े भी सुंदर रहेंगे---बहुत सुंदर ! पता है दादा ? मेरे कपड़े कैसे हैं ?"

"ना !"--आँखों में भरे बात्सल्य सुधा को होंठों पर उड़ेलते हुए उसने कहा।

"खूब सुंदर ! नीले और सुनहले रंग के !"

"अच्छा ! तब तो छोटे मालिक राजकुमार दिखेंगे !"

"हाँ ! बिलकुल !" और---आप क्या पहनेंगे ?" दीनू की गोद में बैठते हुए उसने पूछा।

"मैं ?"-- वह खिलखिलाकर हँस पड़ा।

"क्यों दादा ? हँस क्यों रहे हैं ?"

"आप बात ही ऐसी पूछ रहे हैं ! अब धोती-कुर्ता छोड़कर पैंट-शर्ट तो न पहनूँगा न ? सिर पर अंगोछा के बदले अंग्रेगी टोप तो न रखूँगा बबुआ ?"

"नये तो हैं न ?"

"अब तो भगवान के घर जाते वक्त ही नया पहनूँगा बबुआ ! क्या करना अब कपड़े लेकर ! वैसे भी, आपके पिता जी के दिए हुए ढेर-सारे कपड़े हैं।"

"नहीं-नहीं ! ऐसा न होगा ! मैं भगवान जी से कहूँगा कि वे आपके लिए कपड़े भेजें।"

"भगवान जी से ? वह फिर से खिलखिला उठा और पूछा--- "कैसे कहेंगे बबुआ ?"

"गुब्बारे के साथ उनके नाम एक चिट्ठी भेजूँगा कि वे मेरे दीनू दादा के लिए सुंदर-सुंदर कपड़े भेज दें। उस दिन आपने ही कहा था न कि भगवान सबकी सुनते हैं ?"

दीनू की हँसी एकाएक ग़ायब हो गयी। फटी-फटी आँखों से वह गुड्डू को देखने लगा। एक अज्ञात आशंका से उसका दिल धड़कने लगा। कुछ सोचकर गुड्डू बोला---"भगवान को हिंदी तो आती है न दादा ? या---अंग्रेजी में चिट्ठी लिखवाकर भेजूँ ?"

गुड्डू के मासूम प्रश्नों से इस बार उसे हँसी नहीं आयी। भयाक्रांत हो वह सोचने लगा---"यह क्या ! जिस खिलौने से मैं रोते हुए बच्चे को बहला रहा था, उसमें तो बारूद भरी थी ! यह कैसे भूल गया कि बच्चे, विचार से ज्यादा भाव को ग्रहण करते है ! अच्छे भाव से व्यक्त गलत बातें भी इन्हें सच्ची लगेंगी !"

"बोलिए न दादा---भगवान को हिंदी आती है या नही ?" दीनू की तंद्रा टूटी। हड़बड़ाकर वह बोला----"हाँ-हाँ ! भगवान सब जानते हैं।"

"फिर ठीक है।" खुश होकर दीनू की गोद से वह उठा और अपने घर की ओर दौड़ते हुए जाने लगा।

"ओ बबुआ !"---अचानक उसे रोकते हुए दीनू ने पूछा---"यह तो बताते जाएँ----चिट्ठी लिखेंगे कौन ?"

"आप चिंता न करें दीनू दादा, मैं लिखवा लूँगा न !"

दीनू को समझ नहीं आ रहा था कि वह अब क्या करे। झूठ की चिंगारी से जब वह बालपन की विकृत लोलुपता को दागने चला था, तब उसे क्या पता था कि इसी चिंगारी से आस्था की मशाल जलाकर कभी यह बालक जग रोशन करने का ख़्वाब भी देखेगा !"

गुड्डू ने एक पत्र लिखवाया----भगवान के नाम।

"भगवान जी,

प्रणाम।

मेरे दीनू दादा हैं न ! बहुत अच्छे हैं। आप जब उनसे मिलेंगे न, तब खुद ही आप को पता चल जाएगा। आप तो सब की बात सुनते हैं, इसलिए मैं भी चाहता हूँ कि आप मेरे दीनू दादा के लिए नये-नये सुंदर कपड़े भेज दें। मेरा जन्मदिन आने वाला है। उस दिन आप के दिये कपड़े ही दीनू दादा पहनेंगे। जरा जल्दी भेजिएगा। ठीक है ? आपका गुड्डू।"

पत्र को अपने जेब में रख लिया। माँ से एक गुब्बारा खरीदवाकर उसके धागे में उस पत्र को बाँध दिया। खुली छत पर आकर उसने ललचाई आँखों से गुब्बारे को देखा---"वाह ! कितना बड़ा गुब्बारा है ! लाल-लाल ! इसके धागे को कलाई में बाँध लो और दौड़ो----मजा-ही-मजा ! तुरत ही उसने अपने मन पर अंकुश लगाया---"बाद में दूसरा ले लूँगा, अभी तो दीनू दादा के लिए कपड़े जरूरी है न !" उसने गुब्बारा छोड़ दिया। संदेश वाहक बनकर वह मुक्त गगन में उड़ता गया----उड़ता गया--------और फिर, आँखों से ओझल !

दो दिन हो गये, आकाश की ओर उसकी टकटकी बँधी रही। चेहरे पर छायी प्रसन्नता और उत्सुकता, उदासी में बदलने लगी। उससे रहा न गया। रूँधी आवाज में अपने पिता जी से बोला----"पापा, भगवान अच्छे नहीं हैं।"

चंद्र मोहन लाल चौंक उठे---"भगवान अच्छे नहीं हैं ! क्यों ?"

"क्योंकि उन्होंने मेरी बात न सुनी, पत्र का जवाब भी न दिया।"

"बात न सुनी----पत्र का जवाब न दिया---ये सब क्या है ?" आश्चर्य से मन-ही-मन उन्होंने गुड्डू के प्रश्नों को दोहराये। मन में शंका लिए, कुछ पल वे गुड्डू को फटी-फटी आँखों से देखते रहे, फिर उसे पास बुलाकर, प्यार से उन्होंने पूछा---" कौन-सी बात भगवान ने नहीं सुनी बेटा ? और----और किस पत्र का जवाब उन्होंने नहीं दिया ?"

"उसी पत्र का, जिसे मैंने भगवान के पास भेजा था--दीनू दादा के लिए कपड़े की माँग करते हुए।"

"क्या !" उनके आश्चर्य की सीमा न रही। कुछ पल मौन रहने के बाद पूछा---"भगवान के नाम पत्र भेजा था ?"

"हाँ पापा ! सच कह रहा हूँ।"

"मगर कैसे ?" इस पहेली के समाधान के लिए वे व्यग्र हो उठे।

"पत्र को गुब्बारे के धागे में बाँध कर आकाश में उड़ा दिया। गुब्बारा भगवान के पास जाता, तभी तो उन्हें पत्र मिलता न ?"

चंद्र मोहन लाल को समझने में एक पल की देरी न हुई कि गुड्डू के इस दृढ विश्वास और कार्य के पीछे करण क्या है। अवाक् होकर वे गुड्डू को अनिमेष देखते रहे।

"पापा ! बोलिए न, भगवान अच्छे नहीं हैं न ?" उनके पैरों से चिपकते हुए उसने पूछा।

"न-न ! भगवान बहुत अच्छे हैं बेटा ! वे तो दुनिया के पालनहार है।"

"तो फिर---दीनू दादा के लिए नये कपड़े क्यों नहीं भेजे ?"

"वो---वो--शायद किसी काम में उलझे होंगे।"

"काम में ? वे नौकरी करते हैं क्या ?"

"न-न, नौकरी नहीं--- लेकिन दुनिया देखने का काम करते हैं न !"

"ओ अच्छा ! लेकिन कपड़े तो भेजेंगे न ?"

बिना कुछ बोले उन्होंने सिर हिलाकर 'हाँ' कहा। उन्हें समझ नहीं आ रहा था कि इतने छोटे बच्चे को कैसे समझाएँ कि विश्वास और आस्था एक भाव है और इस भाव को मूर्त रूप देता है---'परिश्रम'।

सूरज सिर पर चढ़ आया था। कड़कड़ाती धूप और प्रचंड लू के प्रकोप से पेड़-पौधे भी आक्रांत थे। बरामदे में फुदकने वाली चिड़ियों की कलरव भी सुनाई नहीं पड़ रही थी। चारों ओर सन्नाटा-ही-सन्नाटा ! और--इस सन्नाटे को तोड़ती आक्रांत पेड़-पौधों की चीख ! दोपहर के भोजन के उपरान्त चंद्र मोहन लाल अपने बिस्तर पर लेटे थे। ललाट पर उभरी रेखाएँ और सिकुड़ी आँखों से स्पष्ट हो रहा था कि वे किसी गहन विचार में खोये थे। अनायास वे उठ बैठे और बगल में लेटी अपनी पत्नी को सारी बातें बतायीं। सारी बातें सुनने के बाद उनकी पत्नी कुछ सोचती हुई बोली---"बच्चों को किसी प्रकार के भ्रम में रखना कहीं से उचित नहीं है। उसे क्यों नहीं बता देते कि गुब्बारा भगवान के पास नहीं जा सकता ?"

"बात तो तुम सही कह रही हो, किंतु अचानक उसकी आस्था पर वज्रपात करना कहीं से उचित होगा ? बाल मस्तिष्क है, विश्वास या अविश्वास का परिष्कार ज्ञान से होना चाहिए, जो समय के साथ स्वतः हो जाता है। बस, ज्यादा-से ज्यादा दो वर्ष ! फिर तो वह गुब्बारे की सच्चाई भी समझ जाएगा और-----!"

"और ?"

"क्या कहूँ ! भगवान को भला कौन समझ सकता है !"

"दर्शन की बात रहने दें। बताएँ कि अब करना क्या है।"

कुछ सोचकर चंद्रमोहन लाल बड़े इतमीनान से बोले---"दीनू काका के लिए नये कपड़े खरीद लेता हूँ। धोती-कुर्ता और अँगोछा। वैसे भी, गुड्डू का जन्मदिन है न ! बहुत प्यार करते हैं उसे।"

"हाँ यह तो ठीक है, लेकिन----कल यदि वह कहेगा कि दीनू दादा हाते में बने खपरैल घर में रहते हैं, इसलिए उनके लिए एक बड़ा-सा मकान माँगूँगा---- बूढ़े हो चले हैं, इसलिए भगवान को पत्र लिखूँगा कि वे जवान हो जाएँ----तब ?"

"तब का तब देखा जाएगा।"

अगली सुबह जब वह सो कर उठा तो देखा कि उसके कमरे के मेज पर बढ़िया-सी धोती, मटमैले रंग का खादी का कुर्ता और भूरे रंग का अँगोछा रखे हुए थे। उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। अतिशीघ्र बिस्तर पर से कूदा और खुशी से चीख पड़ा---"पापा-मामी ! देखिए-- ! भगवान ने दीनू दादा के लिए नये कपड़े भेज दिये !"

चंद्र मोहन लाल और उनकी पत्नी के होंठों पर मुसकान थी। दोनों की आँखें बात्सल्य प्रेम से छलक उठीं मगर चित्त बेचैन हो उठे। कपड़े लेकर वह दीनू के घर की ओर दौड़ पड़ा। उसके जाते ही चंद्र मोहन लाल के ललाट पर चिंता की लकीरें खींच गयीं।

"दीनू दादा----देखिए-देखिए ! भगवान ने आपके लिए सुंदर-सुंदर कपड़े भेजे हैं !" अपार खुशी के साथ गुड्डू ने दीनू को कपड़े थमाते हुए कहा---"अच्छे हैं न ? इसे मेरे जन्मदिन पर पहनकर रख दीजिएगा। फिर जब भगवान के घर आप जाएँगे न ! तब पहन कर जाइएगा।"

हतप्रभ हो दीनू कभी गुड्डू को देखता, तो कभी उसके पीछे खड़े चंद्र मोहन लाल को। उनकी मंद मुसकराहट ने दीनू को कपड़े स्वीकारने की अनुमति दे दी और दीनू----ग्लानि से लिपटे मौन आभार के साथ चुपचाप कपड़े ले लिये।

एक दिन गुड्डू ने उसे अपने बागीचे में नहीं देखा। दौड़ कर बँगले के पीछे गया तो देखा---दीनू दादा पेड़ की छाह में बैठे थे।

"दादा ! पौधे रो रहे हैं, उन्हें खाना-पानी न देंगे ?" गुड्डू की आवाज सुनते ही दीनू के सूखे होंठों पर मुसकराहट दौड़ आयी। उस दिन की बात उसे याद आयी--जब गुड्डू ने उससे पूछा था----"दादा---! पौधों को पानी क्यों देते हैं ?" तब दीनू ने उसे प्यार से समझाते हुए पूछा था---"बबुआ ! यदि आपको खाना-पानी न मिले तो ?"

"तो---तो मैं रोऊँगा। और--बड़ा नहीं होऊँगा।" मासूमियत से भरा उसका संक्षिप्त जवाब था।

"हाँ ---! उसी तरह यदि इन्हें भी खाद-पानी न दूँ, तो ये रोएँगे न ? और ये बड़े भी न होंगे !" गुड्डू को समझाते हुए उसने कहा था। और फिर---उसी दिन से पौधों को देखकर वह उससे पूछता---"दीनू दादा ! पौधे रो तो नहीं रहे हैं न ? इन्हें खाना-पानी दे दिये ?"

"ना--ना बबुआ ! ये तो मेरे बच्चे हैं, इन्हें भला कैसे रोने दूँगा !" दीनू तुरत उठा और धीरे-धीरे पौधों में पानी पटाने लगा।

"अरे--रे--! ये क्या कर रहे हैं दीनू काका !" बरामदे में बैठे समाचार पत्र पढ़ना छोड़ कर अचानक चंद्र मोहन लाल बोल पड़े। दीनू बिना कुछ बोले उनकी ओर देखने लगा।

"अब आप आराम कीजिए काका ! दूसरा माली देख चुका हूँ। वह अभी आता ही होगा।"

"ना-ना बबुआ ! इ अनर्थ न करें ! जीते-जी मैं अपना काम नहीं छोड़ सकता। अरे ! पेड़-पौधे तो मेरे बच्चे हैं। इनकी देख-भाल करने में तो हमें संतुष्टि मिलती है ! वैसे भी, कभी शिकायत का मौका आपको दिया है ?"

"ये क्या कह रहे हैं काका ! शिकायत वाली बात कहाँ से आयी ? दूसरा आ भी रहा है, तो माली के रूप में, और---और आप तो मेरे काका हैं, मेरे घर का सदस्य। कभी भी आपको माली के रूप में देखा ही नहीं।"

"दीनू दादा ! आप बीमार हैं ?" दोनों के बीच हुए वार्तालाप को सुनते हुए गुड्डू ने पूछा। दीनू कुछ न बोला, बस उसके सिर को प्यार से सहलाने लगा। दीनू के सूखे होंठ और मुरझाये चेहरे को देखकर गुड्डू बोला----"कोई बात नहीं ! अभी भगवान जी को पत्र लिखता हूँ, वे आप को ठीक कर देंगे।"

"अरे नहीं बेटा ! भगवान जी को स्वयं भी बहुत काम होते हैं, इसलिए हर काम के लिए उन्हें नहीं कहना चाहिए। तुम चिंता न करो, इनके लिए मैंने डॉक्टर बुलवाया था। उनकी दवाओं से इनकी हालत में सुधार आ जाएगी।"

"तब ठीक है। वैसे पापा, किस तरह के काम के लिए उन्हें कहना चाहिए ?" चंद्र मोहन लाल खीझ उठे, किंतु दीनू के सामने अपनी नाराजगी दिखाने का मतलब था दीनू को दुखी करना। इसलिए संयमित होकर धीरे से बोले---"जो काम हमारे वश में न हो।"

'ओ !' दीनू के हाथ से पानी का जग लेते हुए गुड्डू बोला----"दीनू दादा ! आप दवाइयाँ खाते रहें, जल्द ठीक हो जाएँगे। और सुधार न हुआ तो भगवान जी हैं न ! उनसे कहूँगा।"

"अरे यार ! भगवान--भगवान--भगवान ! दिमाग खराब कर दिया।" मन-ही-मन वे उस घड़ी को कोसने लगे, जब उसकी कलाई पर गुब्बारे को धागे से बाँधा गया था।

दिन-पर-दिन दीनू की स्थिति बिगड़ती ही गयी। चंद्र मोहन जानते थे कि उनकी कहानी में अब विराम चिह्न लगने वाला है, लेकिन जब-तक साँस, तब-तक आस ! नियमित रूप से डॉक्टर आते--- उन्हें दवाइयाँ देते---चंद्र मोहन लाल के साथ दीनू की स्थिति के संबंध में कुछ गुप-चुप बातें होतीं--- और फिर वे चले जाते। उसकी बेटी, दुर्गा भी उसके पास आ गयी थी। उसे बिस्तर पर लेटे देख गुड्डू रो पड़ता। एक दिन उसने बड़े विश्वास से कहा--- "दीनू दादा ! आप चिंता न करें, बहुत जल्द आप ठीक हो जाएँगे।" दीनू की आँखें भर आयीं। होंठों पर पीड़ित मुसकान लिए, बिना कुछ बोले वह गुड्डू को प्रेम प्लावित नजरों से अपलक निहारता रहा। पथराई आँखें चमक उठीं। दोनों के बीच अंतरंग लगाव देख चंद्र मोहन लाल की आँखों से आँसू झड़ने लगे। अपने पिता को रोते देख गुड्डू बोला---"रोते क्यों हैं पापा ? भगवान ठीक कर देंगे। आप ही ने कहा था न कि जिस काम को इंसान नहीं कर सकता है, उसी को भगवान करते हैं ? फिर चिंता किस बात की ?"

चंद्र मोहन लाल चौंक उठे---यानी कि यह फिर से माँग पत्र गुब्बारा से बाँध कर यह उड़ाने वाला है ! उन्हें समझ नहीं आ रहा था कि वे क्या करें। भगवान के प्रति उसकी आस्था को वे टूटते देख नहीं सकते थे और नाहीं गुब्बारा उड़ाने से रोक कर उसकी भावना को आहत कर सकते थे। उसी शाम, गुड्डू के हाथ को अपने हाथ में लेकर दीनू ने बड़ी दीन दृष्टि से उसे देखते हुए कहा--- "बबुआ ! भगवान से कहिए कि वे अपने पास मुझे अब बुला लें। मुझे कष्ट से मुक्ति दिला दें।" बोलते-बोलते वह रो पड़ा।

"मुक्ति ! लेकिन कल शाम ही मैंने भगवान के नाम चिट्ठी भेज दी कि वे मेरे दीनू काका को एकदम ठीक कर दें।"

"फिर से गुब्बारे के साथ ?" फटी-फटी आँखों से गुड्डू को देखते हुए चंद्र मोहन लाल पूछ बैठे।

"हाँ--!" दीनू दादा ने ही तो बताया था कि जीते-जी कोई भी उनके पास नहीं जा सकता है, केवल गुब्बारा जा सकता है।

"चंद्र मोहन लाल एक आह भरते हुए आकाश की ओर देखने लगे और----दीनू ! आँखें मूँद कर सिर धुनने लगा। अगले दिन गुड्डू ने दीनू के माथे को सहलाते हुए कहा---"दीनू दादा ! अब आप ठीक हो जाएँगे। फिर से आप पौधों को खाना-पानी देने लगेंगे। तब----पौधे भी खुश, हमसब भी खुश और---आप भी खुश ! बस, भगवान को चिट्ठी पढ़ने भर की देरी है।"

"भगवान ने चिट्ठी पढ़ ली बबुआ और जवाब भी भेज दिया !" रुँधे गले से दीनू ने कहा।

"पढ़ ली ! इतनी जल्दी ! तो-----?" आगे वह कुछ बोलता, इसके पहले ही दीनू ने एक चिट्ठी चंद्र मोहन लाल को थमा दी। गुड्डू को सुनाकर वे चिट्ठी पढ़ने लगे---"दीनू, अब तुम मेरे पास आ जाओ। यहाँ तुम्हें बड़ा-सा महल मिलेगा, अच्छे-अच्छे भोजन मिलेंगे। तुम्हारी खूब सेवा होगी। हाँ, और गुड्डू जब बड़ा हो जाएगा, तब तुम उसके पास फिर से चले जाना।

तुम सबका

भगवान।"

चिट्ठी में लिखी बातों को सुनने के बाद वह फटी-फटी आँखों से कभी अपने दीनू दादा को देख रहा था, तो कभी अपने पिता जी को। उसने देखा---दोनों की आँखें आँसू से छलछला रही थीं।

"अब बताओ बबुआ, भगवान की बात न मानूँ ?"

"हाँ---! लेकिन मेरे बड़े होने पर आएँगे न ?"

"हाँ बबुआ ! जब आप समझदार हो जाएँगे, जनम-मरण के बारे में जान जाएँगे----तब मैं आ जाऊँगा ।"

"ठीक है ! तब-तक वहाँ आराम से रहिएगा । ठीक !" गुड्डू की बातें सुनकर वह फूट-फूट कर रोते हुए मन-ही-मन बोला---"महल--अच्छा भोजन और आराम का क्या करना बबुआ, जहाँ प्रेम ही न हो !"

"क्यों रोते हैं दीनू दादा ? फिर तो आना ही है !" दीनू चुप हो गया, मगर दीन आँखों से गुड्डू को देखता रहा ।

"अच्छा दीनू दादा ! जाना कब है ?"

बस, कुछ दिनों बाद ही ।"

ठीक है ! लेकिन, भगवान के पास वे ही कपड़े पहन कर जाइएगा, जिन्हें भगवान ने दिये हैं । ठीक है ?"

दीनू टकटकी बाँध कर उसे देखते हुए सिर हिलाकर इशारे में बोला---"ठीक है ।"

चार दिनों बाद ही वह स्वर्ग सिधार गया । अंतिम विदाई के समय उसे वे ही कपड़े पहनाए गये, जिसे गुड्डू समझ रहा था कि ये भगवान के द्वारा दिये गये हैं । उसके जाते ही गुड्डू उदास होकर अपने पिता जी से बोला----"पापा ! भगवान भी तो अपनी मर्जी का ही करते हैं, इसलिए अब उनके नाम कभी चिट्ठी न लिखूँगा । और--उड़ने वाला गुब्बारा भी न लूँगा । उड़ गया तो भगवान के पास ही न जाएगा ! उन्हें गुब्बारा क्यों दूँ ?"

पच्चीस वर्ष बीत चुके हैं। मैं वही मयूर मोहन हूँ, जो अपने बचपन काल में गुड्डू के नाम से जाना जाता था। आज भी जब आकाश में उड़ते हुए गुब्बारों को देखता हूँ, दीनू दादा मेरी स्मृति में मुझे भुलावा देते हुए दिखते हैं कि--- "जब आप बड़े हो जाएँगे और जन्म-मरण को समझने लगेंगे, तब मैं वापस आ जाऊँगा।" आज वे बातें याद करता हूँ तो आह की एक हल्की रेखा मुसकान बनकर होंठों पर तिर जाती है। उनका इंतजार अब नहीं है, क्योंकि वे मेरे साथ हैं---यादों से बँधे हुए----मेरी चेतना में !

"पापा-पापा, मेरा गुब्बारा उड़ गया !"---एक चीख से मेरी तंद्रा टूटी। मैं कुछ बोलता कि इसके पहले ही पिता जी ने दृढ आवाज में कहा---तो क्या हुआ ? उड़ने दो ! फिर से दूसरा आ जाएगा।

"नहीं ! मुझे यही चाहिए I" चीखते हुए उसने कहा I

"चुप ! एकदम चुप ! वह उड़ गया तो वापस कैसे आएगा ? दूसरा खरीद दूँगा I"---और वह चुप हो गया, किंतु मैं ! विमूढ़ हो उस उर्ध्वगामी गुब्बारे को देखता रहा ! हाँ, यही तो है जिसने मुझे भ्रम पाश से बाँध कर इह लोक में रखा और मेरी भावना को लेकर परलोक की ओर उड़ गया था जहाँ मेरी आँखें दीनू दादा को निरंतर ढूँढ़ती रहती थीं। और---तब-तक ढूँढ़ती रहीं, जब-तक यह नहीं जाना कि जनम-मरण विधि का विधान है। इस शाश्वत सत्य को अब स्वीकार कर चुका हूँ किंतु यह कैसे भूल सकता हूँ कि यही वह गुब्बारा है जो कभी मेरी कलाई से बँधे धागे के साथ उड़ गया था और तब से लेकर आजतक के लिए मेरे हृदय में एक मीठी कसक छोड़ गया !

सूखा पेड़

"चल हट !"--मैंने लाली को धक्का देते हुए फटकारा---"बिना मुझसे पूछे ही मेरे खिलौने क्यों छूती है ?" वह गिरती-गिरती बची और कुछ दूरी पर खड़ी होकर मुझे दीन नजरों से देखने लगी। मेरा मन तब भी न भरा। उसकी ओर लपका और उसके बालों को पकड़ कर पीठ पर घम-घम मारते हुए चीखा---"कितनी बार कहा कि मेरा कोई सामान मत छू, मगर छूएगी ही ! सुनती ही नहीं !"

डरकर लाली चीखने लगी। चीख सुनकर माँ दौड़ी आयी। लाली को बचाती हुई मुझे फटकारने लगी---"यह क्या है राजा ? यह बिचारी तुम्हारे साथ खेलने आती है, और तू इसे पीटता रहता है ! उस दिन भी तूने इसे जोर का धक्का दिया था, देख-देख !" लाली के सिर पर कटे का निशान दिखाती हुई बोली---"कैसे फट गया था ? तू तो बड़ा बेरहम निकलेगा रे ! और यह बिचारी ! पूछने पर सच्ची बात बतायी भी नहीं कि तूने ही इसे चोट पहुँचायी है।"

माँ की फटकार मैं सुनता रहा। माँ सही कह रही थी। सच में, उस दिन भी मैंने इसे धक्का दिया था और यह गिर गयी थी। इसके सिर से खून निकलने लगा था। यह बेतहाशा रोती-रोती अपने घर की ओर जा रही थी और मैं डरकर अपने पलंग के नीचे छिप गया था। कुछ देर बाद ही उसकी माँ आयी और रूखाई के साथ बोली---"यह क्या है राजा की माँ ! आयँ ? हम गरीब हैं, इसका मतलब यह तो नहीं कि हमारे साथ जानवर जैसा व्यवहार किया जाए ?" लाली के सिर से खून निकलते देख माँ घबड़ा गयी और सफाई देती

हुई बोली---"अरे नहीं लाली की माँ ! अमीर-गरीब की बात नहीं है। बच्चे हैं न ! खेल-खेल में चोट लग गयी होगी !"

इसके पहले कि माँ फर्ज या सहानुभूति वश लाली को दवा-पट्टी करवाती, उसकी माँ भड़क उठी---"तो खेल-खेल में मेरी बेटी को ही चोट क्यों लगती है ? आपके बेटे को तो कभी कुछ नहीं होता ?"

अपने बच्चे को चोट लगे और वह लहू-लुहान हो जाये--- भला ऐसी परिकल्पना कोई माँ कर सकती है ? माँ को गुस्सा आ गया। तेज आवाज में बोली---"तो अपनी बेटी को यहाँ मत आने दो, मेरा बेटा तो नहीं जाता है न ?"

लाली की माँ की आँखों से आँसू निकलने लगे। आँसू पोछती हुई बोली--"माल-जार (गाय-बकरी-भैंस--आदि) को बाँध कर रक्खा जाता है, बच्चा को भला कोई कैसे बाँधकर रख सकता है !" फिर लाली को धमकाती हुई तेज आवाज में बोली---"सुना न ? याद रख ! अब से यहाँ आयी तो समझ लेना ! पैर-----!"

"नहीं अम्मा ! राजा ने धक्का नहीं दिया। मैं दौड़ती हुई स्वयं गिर गयी। राजा तो मुझे उठा रहा था कि भोलू आया और उसे लगा कि इसी ने मुझे धक्का दिया है। और---और तुम उसकी बातों में आ गयी।" बात काटती हुई वह अपनी सिसकियों के साथ बोली।

उसकी बातों पर शायद उसकी माँ यकीन कर गयी, किंतु मेरी माँ अच्छी तरह जानती थी कि मेरे बचाव में लाली झूठ बोल गयी। लाली की भलमनसाहत पर माँ का हृदय पिघल गया। लाली को अपनी ओर लेती हुई बोली---"जो होना था सो हुआ ! लाली मेरी भी बेटी की तरह है। चलो बिटिया---! कहती हुई मलहम-पट्टी करवाने उसे अपने साथ ले गयी थी। अगले दिन वह फिर आयी और मुझे देखकर कुछ दूरी पर खड़ी हो गयी। माँ ने उसे प्यार भरी

नजरों से देखा किंतु मुझ पर नजर पड़ते ही मुझे धमकाती हुई बोली-----"सुन ले ! अब इसे पीटा या थोड़ा-सा भी धक्का दिया न, तो समझ लेना---- !"

"तो---तो--मेरे खिलौने यह क्यों छूती है ?" तुनकते हुए मैंने कहा । माँ ने लाली को प्यार से कहा---"यह शैतान है ! इसके खिलौने क्यों छूती है बिटिया ?"

"सुंदर दिखते हैं ।" बड़े संकोच से उसने कहा ।

"हाँ तो खुद खरीद ले न !" उसे देखकर मैं मुँह बिचकाने लगा और लाली निरीह आँखों से मुझे चुपचाप देखती रही । मैं उसे अक्सर पीटता रहता था, उसे देखकर मुँह बिचकाया करता था, उसे दिखा-दिखाकर दूसरे बच्चों को अपने खिलौने देता था मगर वह---! मुझसे कुछ दूरी पर खड़ी होकर मुझे देखती रहती थी, मानो इस इंतजार में कि कभी-न-कभी मैं उसकी दोस्ती को स्वीकार करूँगा ही । तब वह मेरे पीटने पर भी चीख कर रोना छोड़ चुकी थी क्योंकि उसे डर था कि मेरे पास आने के लिए कहीं उसे मना न कर दिया जाए । चोट लगने पर वह अपना मुँह खोलती, मगर आवाज नहीं निकालती । हाँ, आँखों से आँसू जरूर बहते---और वह अपनी हथेली से पोंछती हुई चली जाती । कई बार तो हथेली में लगे धूल के कारण उसके गाल गंदे हो जाते, जिसे देखकर मैं और अन्य बच्चे खूब हँसते ।

और फिर ! अगले दिन ! सब कुछ भूलकर चहकती हुई आती---"राजा---!"

यह सच है कि मैं उसकी उपेक्षा करता रहा और उसने---! दोस्ती निभाने में कभी भी कोई कमी न की । धीरे-धीरे हम बड़े होने लगे । तब कहीं जाकर मुझे मालूम हुआ कि जब लाली दो वर्ष की ही थी, तभी उसके पिता जी की मृत्यु एक बस दुर्घटना में हो गयी थी । वे किसी निजी कार्यालय में सेवारत थे । वैसे जाति तो हमारी एक ही थी, किंतु साथ में उठने-बैठने के लिए हैसियत भी तो कोई चीज है ! कहाँ हमलोग जमींदार खानदान के और कहाँ लाली

का परिवार ! बस, कमाया तो खाया ! वैसे मेरी माँ और पिता जी उसके परिवार से सद्भाव रखते थे, किंतु लाली की माँ उनके सामने अपने-आप को बहुत दीन समझती थी। पति की मृत्यु के बाद वह दूसरों के घर में काम करती हुई अपनी बेटी, एक छोटा बेटा और अपना भरण-पोषण कर रही थी।

एक दिन लाली की माँ किसी कारण वश वह मेरे घर आयी। उस वक्त माँ रसोई घर में बरतन धो रही थी क्योंकि काम वाली नहीं आयी थी। बातों-ही-बातों में माँ ने उसे बताया कि वह अपने बेटे के पास गयी है, इसलिए अभी वह आएगी भी नहीं। माँ की बात सुनकर वह बड़ी आस लिए बोली---"दूसरों से जो काम करवाती हैं, सो मुझे ही काम करने के लिए रख लें !" यह भला कैसे हो सकता था ! गरीब ही सही, किंतु थी तो मेरी बिरादरी की ही न ! शायद इसीलिए माँ को बुरा लगा और झट से बोली---"अरे नहीं-नहीं लाली की माँ ! मुझसे ऐसा न होगा। पड़ोसन हूँ, कभी किसी चीज की या कुछ रुपयों की जरूरत हो तो माँग लेना, मगर--- तुमसे चौंका-बरतन करवाऊँ,---यह मुझसे न होगा।"

तब मुझे बड़ा अफसोस होने लगा कि बचपन में उसे क्यों मारता रहता था ! वो भी खिलौने के लिए ! खाने के लाले पड़े थे, खिलौने के लिए पैसे वह कहाँ से लाती ! एक दिन अफसोस जाहिर करते हुए मैंने कहा---"लाली ! सच में ! बचपन में मैं कितना शैतान था ! मुझे याद है---तू मुझसे कितना लगाव रखती थी और मैं तुम्हें कितना पीटता था ! छोटी-छोटी बातों पर गुस्सा कर तुम्हें चोट पहुँचाया करता था !"

"उसने मुसकराकर पूछा---"बचपन में लगाव रखती थी ? अब नही ?"

मैं झेंप गया। मेरी नजरें नीची झुक गयीं। वैसे लगाव तो लगाव ही होता है मगर उसने जिस लहजे में पूछा, उसका अर्थ मैं समझने लगा था। तुरत ही मुझे लगा कि अपनी चंचलता के कारण इसने ऐसा कहा होगा। अपनी बातों

के लिए सफाई देते हुए मैंने कहा---"नहीं---रखती तो हो, मगर----बचपन की बात कुछ और ही थी !"

"तो अभी क्या है ?"

उसकी बातों से दूसरा झटका लगा । वैसे उसके प्रश्न मुझे शीतल चाँदनी-सी लग रहे थे, किंतु मैं पसीने-पसीने होने लगा । मुझे चुप देखकर लाली ने बड़े इतमीनान से कहा---"रहने दो राजा ! जानती हूँ, इसका जवाब तुम कभी न दे पाओगे ।" कुछ सहज होती हुई वह बोली---"बचपन की बातें, बचपन के साथ गयी ! अब तो कभी चोट नहीं पहुँचाओगे न ?"

मेरी नजरें अनायास ही उसके चेहरे पर टिक गयीं । देखा--शून्य आकाश से सन्नाटे भरती हुई उसकी आँखें ! गंभीरता की स्मित मुसकान लिए, बहुत-कुछ बोलकर भी मौन अधर !

"अचानक इसे यह क्या हो गया, जिसके कारण मैं भी----!" अनायास वह चहक उठी---"राजा ! कल तुम कहाँ थे ? तुम्हारे लिए अमरूद लेकर आयी थी, अपने पेड़ से !"

"कल ? सहज होते हुए मैंने कहा----"माँ ने मौसी के घर भेजा था, अचार देने के लिए ।"

"अच्छा ठहरो, अमरूद लेकर अभी आती हूँ ।" वह दौड़ती हुई चली गयी । अमरूद सच में बड़े मीठे थे---बिलकुल लाली के स्वभाव की तरह !

उस रात मुझे नींद नहीं आयी । लाली की बातों में मेरा ध्यान उलझा रहा । यद्यपि मैं बेचैन नहीं था, किंतु चित्त को चैन नहीं था । उसकी बातें मेरे अंतःमन में तरंगित जीवन रस में कुछ मिठास घोल रही थीं और मैं उस घोल में डूबता जा रहा था । मेरे साथ ही, मेरी नींद भी डूब गयी थी । सोने की कोशिश करते हुए मैंने आँखें बंद कीं, तभी बिजली चमकी और मेरी आँखें

खुल गयीं। खिड़की से झाँक कर देखा--आकाश में घनघोर बादल छाए थे। मैंने महसूस किया--- प्रकृति का यह रूप तो ईश्वरीय माया है किंतु कल्पना के बादल को चीर कर यथार्थ की बिजली जब चमकती है, तब वास्तविकता स्वतः सामने आ जाती है। फिर---न लाली की उलझी बातें मेरे मन में रहीं, न उसके बोलने के लहजे की मादकता ! वैसे भी, मैंने मन को समझाया---"उस राह पर क्यों जाना, जहाँ कोई स्वयं को ही खो दे ? कहाँ लाली और कहाँ मैं ! तकदीर ने हमारे बीच बहुत गहरी खाई खोद रखी है।" अपने मन को तत्त्वज्ञान भी दे डाला--"मन बड़ा चंचल है, इसे वश में रखना चाहिए। मन रूपी घोड़े का सारथि आत्मा है और लगाम विवेक है। घोड़ा भटक न जाये, इसलिए विवेक रूपी लगाम से कसना जरूरी है।" लेकिन---यह ध्यान न रहा कि चंदन के पेड़ उस भूमि पर नहीं लगते, जिसमें आनाज उपजते हों। मोह-माया से सिंचित मिट्टी में आत्म ज्ञान का बीज अंकुरित भी नहीं हो सकता है, वृक्ष लगना तो दूर की बात है।

मेरे भाई की शादी थी। परिवार जनों के जमाव के कारण घर में काफी रौनक थी। काम भी ज्यादा था, इसलिए लाली यहाँ आकर देर रात तक रहती और माँ के काम में हाथ बँटाती।

बरात निकलने के दिन मैं काफी व्यस्त था। भैया के साथ-साथ मुझे भी तो सजना-सँवरना था ! मैं स्नानगृह की ओर जा ही रहा था कि लाली ने चहक कर आवाज दी---"राजा ! रुको, तुम्हें कुछ दिखाना है !" मैंने देखा--सभी की नजरें कभी मुझे निहारने लगीं, कभी लाली को। कुछ लोग मुसकरा रहे थे, कुछ लोग आश्चर्य के साथ देख रहे थे और कुछ तो उत्सुकता वश मुँह खोले थे। बड़ी बुआ अपने सिर पर आँचल डालती हुई हमें वक्र नजरों से देखने लगी। मैं सकपका गया। "पगली है यह !" मन-ही-मन कहते हुए, सभी से आँखें चुराकर मैं स्नानगृह में घुसने ही वाला था कि दौड़कर उसने मेरा हाथ

पकड़ लिया। शरम के कारण मेरी कनपटी लाल हो गयी मगर उसने सामान्य भाव से कहा--"कैसे हैं मेरे वस्त्र ?"

"यही दिखाना था ?" दबी आवाज में मैंने खीझते हुए कहा।

"तो और क्या देखना था बबुआ ?" बड़ी भाभी ने व्यंग बाण छोड़ा।

एक सरसरी नजर भाभी पर डालकर वह कुछ झल्लाती हुई मुझसे बोली----"छोड़ो न उनकी बात ! बताओ न, मेरे वस्त्र कैसे हैं ?" मैं जानता था कि जब तक 'अच्छा' नहीं बोलूँगा, वह जाएगी नहीं, इसलिए जल्दी से बोला---"अच्छे हैं, बहुत-बहुत अच्छे।"

"चाची जी ने दिये हैं !"

मैंने भी उत्सुकता वश धीरे-से पूछा----"मेरी माँ ने ?"

"हाँ ! उन्होंने ही दिये हैं ! देखो-देखो !" कपड़े फैलाकर वह मुझे दिखाने लगी तो मैंने जल्दी से कहा---"हाँ-हाँ ठीक है।" कहते हुए स्नानगृह में घुसते ही दरवाजा लगा लिया लेकिन बाहर से उसकी झल्लाहट स्पष्ट सुनायी पड़ रही थी--"बताओ ! यह क्या बात हुई ? देख तो लेता ! लेकिन नहीं ! बस, जाओ-जाओ-जाओ ! धत् !"

माँ की उदारता से मैं प्रसन्न था क्योंकि जहाँ इतने लोग कीमती वस्त्रों में थे, वहाँ उसकी इच्छा क्या नहीं होती कि वह भी अच्छे वस्त्र पहने !

शादी के बाद भाभी घर आ गयीं। मुँह दिखाई का कार्यक्रम चल ही रहा था कि लाली भी एक थैला लिए वहाँ आ पहुँची। उसकी आँखों में प्रसन्नता झलक रही थी और होंठों पर स्निग्ध मुसकान खिली थी। भाभी के पास आकर थैले में से चार अमरूदें निकालकर उन्हें देती हुई बोली---"भाभी जी ! ये अमरूद मेरे पेड़ के हैं, बड़े मीठे !" वहाँ उपस्थित सभी लोग उसके भोलेपन को देख मुसकराने लगे। मैंने महसूस किया कि सोने-चाँदी से बने

गहने भी उपहार स्वरूप देकर मेरे परिवार की कोई सदस्या इतना गर्व महसूस नहीं कर रही थीं, जितना गर्व लाली महसूस कर रही थी, वो भी उपहार में केवल चार अमरूद देकर।

"और हाँ चाची ! राजा कहाँ है ?" इधर-उधर नजरें घुमाते हुए उसने पूछा। मैं वहीं, पीछे में बैठा था। अपना नाम सुनते ही मेरा दिल धड़कने लगा। "आज फिर कोई तमाशा खड़ा करेगी--!" मैंने सोचा और यही हुआ। बड़ी भाभी ने मुसकराकर मेरी ओर इशारा किया। चहकती हुई वह मेरे पास आयी और आत्मीयता दिखाती हुई बोली---"बाहर से तुम्हें ढूँढ़ती आ रही हूँ। ये लो---तुम्हारे लिए भी कुछ अमरूदें लायी हूँ।" सभी मुझे देखकर हँस पड़ीं किंतु मैंने देखा---बड़ी दादी, मेरी नानी और विशेषकर आजमगढ़ वाली बुआ---! बाप-रे ! हम दोनों को बड़े गौर से देखी जा रही थीं। मेरे पास कोई चारा न था। झुकी नजरों से उसकी भावना का सम्मान करते हुए मैंने अमरूदें ले लिये।

"छोटी माँ ! छोटी बहू अब ढूँढ़ने की जरूरत नहीं है, इसे ही बना लीजिएगा।" बड़ी भाभी ने मजाक करते हुए कहा। कुछ पल के लिए लाली अवाक् होकर उन्हें देखती रही और फिर---शरम से उसका चेहरा लाल हो गया और नजरें नीची कर मुसकराती हुई वहाँ से भाग गयी। भाभी की बात सुनकर मैं भी लज्जित होकर सोचने लगा---"इस पगली के कारण मेरा भी मजाक उड़ गया !" लेकिन---भाभी की बात मेरे हृदय में अलौकिक आनंद का तरंग बनकर मेरे कानों में गूँजने लगी और इच्छा हो रही थी कि बार-बार मैं इस वाक्य को सुनता रहूँ। चेहरे पर छलकती अपनी खुशी को समेटे मैं गंभीर बना था किंतु मेरा मन-मयूर नाच उठा था। उनके द्वारा बोला गया एक-एक शब्द, मधुर संगीत बन मेरे अन्तःकरण को छू गया और मेरा रोम-रोम सिहर उठा। और लाली ? तब से वह कई दिनों तक नहीं आयी, और न दिखायी दी। हाँ, उसके जाते ही दादी के सवाल कटार की तरह खड़े हो गये----"कौन है यह लड़की ? कहाँ रहती है ? किस बिरादरी की है ?--वगैरह-वगैरह !"

मेरे तन, मन और अंतःकरण के उद्गार क्षणिक सही, मगर आनंद से लबालब रहे। क्षणिक इसलिए कि तुरत ही मेरे मदमस्त भाव पर यथार्थ का चट्टान गिर पड़ा था। अमीरी और गरीबी के संयोग से चिंगारी निकलने की संभावना सोचकर ही उमंग के फूलों से सजी क्यारी---- भस्म हो गयी। दादी के सवालों का जवाब देती हुई बड़े इतमीनान से माँ बोली---"यहीं, पास में ही रहती है। है तो अपनी ही बिरादरी की, लेकिन खानदान----!" माँ के चेहरे पर उभरे बीभत्स भाव ने इस अधूरे वाक्य को पूरा कर दिया था।

"तो इतना आन-जान बनाकर क्यों रखी हो ?" मुँह बनाती हुई दादी पूछ बैठी।

"दुखिया है बिचारी ! बहुत छोटी थी यह, तभी इसका बाप मर गया और माँ ! दो बच्चों को पालने के लिए दाई का काम करती है ! वह तो मेरे पास भी काम माँगने आयी थी, लेकिन मैंने टाल दिया। कुछ भी हो, है तो अपने बिरादरी की न ! अच्छा लगता ?"

"वो तो ठीक है ! लेकिन ध्यान रखना ! मीठे फल पर मधुमक्खियाँ और भृंग तो मँडराते ही हैं, मक्खियाँ भी भिनभिनाती हैं !" अपनी आँखों से शक और बोली से जहर लिप्त तीर छोड़ती हुई दादी बोली।

"अरे नहीं माँ जी ! ऐसी कोई बात न है !" उनकी बातों को हँसी में टालती हुई माँ बोली। माँ की बातें सुनकर मेरा मन क्षुब्ध हो गया। मैं भी चला था रेत के महल में आनंद उठाने ! हाँ, रेत के महल में ही तो मैं प्रवेश कर गया था ! बिना किसी आधार पर बना हुआ महल ! कटु यथार्थ का एक हल्का झोंका आया, और वह ढह गया ! मेरा साहस इसका सामना कर सकता था लेकिन नहीं ! मेरी कायरता इस पर भारी पड़ गयी। उस दिन के बाद लाली स्वयं तो नहीं आती लेकिन अपने छोटे भाई के हाथ अमरूदें जरूर भेजवाती। वह आता और अमरूदें देते हुए कहता---"दीदी ने भेजे हैं। जरूर खाइएगा, बड़े

मीठे हैं ।" और मैं ! लाली के बारे में बिना कुछ पूछे ही, उसके भाई के हाथ से चुपचाप अमरूदें ले लेता ।

भइया की शादी के पूर्व ही इंटर की परीक्षा का परिणाम आ चुका था । पिता जी की इच्छा थी कि मैं दिल्ली जाकर पढ़ाई करूँ, इसलिए वहाँ के महाविद्यालयों में भी मैंने नामांकन हेतु आवेदन किया था । चूँकि अच्छे अंकों की प्राप्ति हुई थी, इसलिए मेरा दाखिला वहाँ हो गया । मेरे जाने की तैयारी होने लगी । मैं इतना प्रसन्न था कि मुझे लाली की याद भी न आयी । दिल्ली जाने के लिए मैं अपने परिजनों के साथ स्टेशन पहुँचा ही था कि मेरी नजर लाली पर पड़ी । मैं चौंक उठा और बगल झाँकने लगा । जिन परिजनों के सामने मैं उसके साथ हँसता-बोलता था, झगड़ा करता था---आज उन्हीं के सामने दो बातें करने में झिझक रहा था । क्यों ? शायद मेरे मन का चोर उस साध्वी का सामना करने से कतरा रहा था । या फिर मेरी कायरता, उसके सद्भाव और निःछलता के आगे धुटने टेक चुकी थी । सहज भाव से उसने मुझे एक थैला थमाया, जिसमें कुछ अमरूद थे । उसकी ओर बिना देखे ही मैंने कहा---"घर पर ही दे देती !"

"नहीं न ! घर पर इसे छोड़कर चले आते तो ? मुझे पता है न कि तुम कितने लापरवाह हो !" मैं कुछ न बोला । चुपचाप रेल गाड़ी में बैठ गया और अपने परिजनों के साथ बेमन से बातें करता रहा । चाहकर भी लाली को न तो देखा और नाहीं उससे दो बातें कीं । गाड़ी चलने को हुई । सभी लोग हाथ हिलाकर विदाई देने लगे । मैं भी अपना हाथ हिलाता रहा लेकिन मेरी नजरें लाली पर टिक गयीं । वह चुपचाप मूर्तिवत् खड़ी थी ! आँखों में न वह चमक थी, न होंठों पर मुसकान ! मेरी आँखें भर आयीं, मगर अपने-आप को बलवत् संयमित करते हुए मैंने मन-ही-मन कहा ---"लाली से इतना लगाव क्यों ? मुझे तो उससे दोस्ती ही है न !" रूमाल से अपनी आँखें पोंछीं और थूक धोंटते हुए मैं खिड़की के बाहर देखने लगा । अचानक मुझे अपने बचपन की

बात याद आयी-- "लाली ! कितना उसे मारता था ! धक्का देकर गिरा देता था ! वह रोती, मगर मुझे कुछ न कहती ! मेरे विरुद्ध शिकायत करना तो दूर की बात थी ! लेकिन---एक दिन उसने रोते-रोते कहा था----"राजा ! तू मुझे रुलाता है न ! देखना ! एक दिन तू मेरे लिए रोएगा !" तब मुझे गुस्सा आ गया था। उसके बालों को पकड़ कर दाँतें पीसते हुए मैं गुर्राया था---"क्या कहा ? मैं रोऊँगा ? तुम्हारे लिए ? क्यों ? तू मेरी लगती कौन है ?"

दर्द से वह चीखती हुई बोली थी---"मुझे नही पता--! मुझे नहीं पता !"

अब मैं अपने-आप को रोक न पाया। फूट-फूटकर रो पड़ा। हाँ ! उसकी बात सच हुई। और---वह बात भी सच थी ! वह मेरी कौन लगती है---मुझे नही पता !

"बेटा ! पढ़ने जा रहे हो न ? यह तो अच्छी बात है ! इसमें रोने वाली बात क्या है ?"--- एक यात्री की सहानुभूति भरी बातों से मेरी तंद्रा टूटी। उनकी ओर एक नजर डाल कर मैं खिड़की के बाहर देखने लगा। स्टेशन छूट चुका था और रेल गाड़ी, खेत-नदियों को पार करती हुई अपनी पटरी पर दौड़ी जा रही थी---मुझे मेरे गंतव्य स्थान तक पहुँचाने के लिए !

पढ़ाई के दौरान वर्ष में एक बार मैं घर जरूर आता। लाली से मेरी मुलाक़ात भी होती, मगर पहले वाली बात न थी। उसकी चंचलता लुप्त हो गयी थी और बहुत ही सीमित शब्दों में बातें करती। एक दिन मैंने उससे पूछ दिया---"तुम्हारी हँसी कहाँ चली गयी ? और--और इतने नपे-तुले शब्दों में बातें क्यों करती हो ? मैं वही राजा हूँ---!"

"जो बचपन में मुझे पीटा करता था ?" एक व्यथित मुसकराहट बिखेरते हुए उसने पूछा। मैं उसके प्रश्न का अभिप्राय समझने का प्रयास ही कर रहा था कि एक आह भरते हुए उसने कहा---"वैसे--वे बचपन के दिन ही अच्छे थे !"

"क्यों ? पिटाई खाने की आदत पड़ गयी थी क्या ?"--- मैंने व्यंग करते हुए पूछा। उसके अधर पर हल्की हँसी छा गयी। बोली कुछ भी नहीं, मगर न बोलकर भी बहुत कुछ बोल गयी, और मैं----! एक अपराधी की भाँति उसे देखने लगा। मानो वह कह रही हो--उस समय तो तन पर चोट लगती थी लेकिन अब मन पर लगी है। इस चोट को कोई देख भी नहीं सका, बस एक टीस का रूप लेकर मन में समा गयी और अंतःकरण तक भेद गयी।

जब तक मैं वहाँ रहता, अपने पेड़ का अमरूद वह जरूर खिलाती और जाते वक्त थैला भरकर दे देती। एक बार मेरे मना करने पर अपने होंठों पर व्यथित मुसकान बिखेर कर बोली--- "खा लो राजा ! पता नहीं इस पेड़ की आयु कब-तक है ! कब सूख जाये !" उसकी बातों का अभिप्राय समझकर भी मैं नासमझ बनने का अभिनय कर चुप रहा। मुझे बड़ा दुःख हुआ। तब से उसके द्वारा दिए गये अमरूद भरा थैला चुपचाप ले लेता।

पढ़ाई समाप्त होते ही दिल्ली में मेरी नौकरी हो गयी। कुछ महीने बाद ही माँ ने मुझे सप्ताह भर के लिए घर वापस बुलाया क्योंकि मेरी शादी पक्की हो गयी थी। माँ ने बताया---"लड़की काफी पढ़ी-लिखी है, सुशील और देखने में सुंदर भी है।"

मैं कुछ न बोला। क्यों न बोला---यह समझ न पाया। और फिर---बोलता भी तो क्या बोलता ! किससे बोलता ! अंततः बेमन से ही सही, शादी के लिए मैं घर पर उपस्थित हो गया। अभी घर के बाहर ही था कि एक आवाज आयी---"राजा--आ--आ--!" मैंने मुड़ कर देखा--लाली मेरी ओर चली आ रही थी। कितनी बदली-बदली वह दिख रही थी ! सहज चपलता के स्थान पर बनावटी चंचलता झाँक रही थी। आँखों की सरसता आँसू तुल्य दिख रही थी। होंठों पर हल्की हँसी जरूर थी मगर-- ऐसी लग रही थी मानो यह दीनता में लिपटी हुई हो। उसकी आवाज सुनकर, वहीं पर अपना सामान

रखकर मैं उसे देखने लगा। आज उसे देखकर न मुझे खुशी हुई, न उत्सुकता। बस, निरीह आँखों से उसे देखता रहा। शायद----क्षमा याचना के लिए।

"कैसे हो राजा ?" उसने सहज भाव से पूछा।

"ठीक हूँ ! और तुम ?"

"मेरी बात छोड़ो ! तुम बताओ, दो दिनों बाद तुम्हारा ब्याह है और तुम आज आये हो ? इतनी देरी से ?"

"हाँ, समय नहीं मिला।" इधर-उधर देखे हुए मैंने कहा।

"हाँ ! यह भी ठीक है ! अब वह समय कहाँ रहा ! समय के साथ सब कुछ बदल गया ! बस केवल एक को छोड़ कर !"

"किसे छोडकर ?" कुछ शंकित होकर मैंने पूछा।

"लाली को----!" उसने गंभीर होकर निःसंकोच कहा और तुरत मेरा सामान उठाकर अंदर जाती हुई तेज आवाज में बोली---"चाची जी ! देखिए ! दूल्हे राजा आ गये।"

लेकिन मैं----! हतप्रभ हो कुछ पलों के लिए वहीं खड़ा रहा। वह सही कह रही थी। उसकी उक्ति मेरे पुरुषार्थ के लिए चुनौती थी, लेकिन मैं इसे स्वीकार करने में असमर्थ था। खानदान की गरिमा, माँ की खुशी और परिवार जनों की उत्कंठा---इन सारी बेड़ियों में जकड़ा मैं, उसी राह पर चलने के लिए विवश था, जिस पर से मुझे ले जाया जा रहा था---एक कैदी की भाँति !

विवाह का दिन निकट आ रहा था। माँ के साथ लाली काम में लगी रहती लेकिन मैंने गौर किया कि बड़ी भाभी की नजरें उस पर अटकी रहतीं। हर वक्त उसे देखती रहतीं। मुझे बड़ा गुस्सा आया। उनके मन की बातें मैं खूब समझ रहा था। मुझसे रहा न गया। अपने गुस्से पर काबू रखते हुए मैंने दबी

आवाज में पूछा----'क्यों भाभी ! लाली आपको इतनी पसंद है कि उस पर ही आपकी नजरें टिक गयीं ?"

"ऐसी कोई बात नहीं है बबुआ ! बस सोच रही थी कि यह कितनी अच्छी है !" झेंपती हुई वे बोलीं।

"लेकिन --इसकी अच्छाई किस काम की ! गरीबी के कीचड़ में लिप्त है न ! सभी को बदबूदार ही लगेगी। और---- इसीलिए समझदार लोग ऐसे व्यक्ति से दूरी बनाए रखने की सलाह देते हैं। क्यों भाभी मैंने ठीक कहा न ?"

मेरी व्यंग्योक्ति शायद उन्होंने समझ ली और इसीलिए वे कुछ न बोलीं, लेकिन मन-ही-मन मैं भन्ना उठा---"बड़ा आयीं अच्छाई देखने वाली ! मुझे भी पता है---मन में क्या चल रहा है ! मेरे सामने खीर परोसने आयी थीं, उलटे उन्हें ही मैंने मिर्च के साथ खिलायी न !"

मेरे मन में भले ही उदासी थी, किंतु मेरे घर में रौनक थी। शादी के पश्चात् जब मैं घर लौटा तो मेरे परिवार के साथ-साथ आस-पड़ोस की औरतें दुल्हन को देखने जमा हो गयीं। वहाँ अच्छी-खासी भीड़ जमा हो गयी। मगर--लाली नहीं दिखी। काफी देर बाद वह आयी। नहीं मालूम, क्यों ! लेकिन उसे ढूँढ़ती मेरी आँखों को तृप्ति मिली। उसने बड़े प्यार से रंग-बिरंगे और चमकीले मोतियों की माला मेरी पत्नी को भेंट स्वरूप दी। अपने होंठों पर बनावटी मुसकान बिखेरते हुए मैंने कहा---"क्यों लाली ? अमरूद नहीं खिलाओगी ?"

"अमरूद मीठे नहीं हैं। उनके स्वाद फीके पड़ गये हैं।" मेरी पत्नी को निहारते हुए उसने संक्षिप्त उत्तर दिया। उसकी बातें सुनकर और उसके चेहरे का भाव देखकर सभी उसे गौर से देखने लगे। खासकर आजमगढ़ वाली बुआ ! ऐसा लग रहा था कि वह लाली को निगल ही लेंगी। मगर लाली---! उड़ती-फिरती एक नजर उनपर डालती हुई यथावत् वहीं बैठी रही, मानो शेरनी को

एक चिड़िया चुनौती दे रही हो--- "जानती हूँ, पेट-भर भोजन के बाद भी मेरा मांस तुम्हारे लिए अधिक न होगा ! बस, एक निवाले का ! लेकिन हिम्मत है तो पकड़ कर देख ! पकड़ में न आऊँगी ! स्वछंद गगन में उड़ने लगी हूँ ! हाँ, जब पिंजरबद्ध थी, तब कुछ और ही स्थिति थी ।" माहौल का रुख बदलते हुए मैंने उसका परिचय अपनी पत्नी से कराया---"यह लाली है ! मेरे बचपन की दोस्त ! जब मैं छोटा था, इसे बहुत चोट पहुँचाई ।" मैं हँसते हुए बोल रहा था, किंतु वह गंभीर होकर मुझे देख रही थी, मानो पूछ रही हो---"केवल छोटे में ही ?" मैं उससे अपनी नजरें चुराकर इधर-उधर देखने लगा । हाँ, मेरी पत्नी ने मुसकराकर जब उसे देखा तो लाली के होंठों पर अभिवादन स्वरूप सहज मुसकराहट तिर गयी । फिर---लाली मेरे घर नहीं आयी । मेरी इच्छा हुई कि दिल्ली जाने के पहले, एक बार भी उससे मिल लूँ । मैंने उसके भाई से पूछा---"छोटू ! लाली कहाँ है ?"

"अमरूद बेचने गयी है ।"

"अमरूद बेचने !" मैं चौंक उठा ।

"हाँ । साँई चक, वहीं के मंडी में ।"

"यह काम उसने कब से शुरू कर दिया ?"

"जब से आप दिल्ली गये हैं । कहती है कि अब किसी को मुफ्त में अमरूद न खिलाऊँगी ।" मैं कुछ भी न बोला, और सच तो यह था कि इस विषय पर कुछ सोचना भी नहीं चाहता था । बस एक आह भरते हुए मन-ही-मन मैंने कहा---"पगली !"

सप्ताह भर बाद मैं अपनी पत्नी के साथ दिल्ली वापस आने के लिए स्टेशन पहुँचा । हमेशा की तरह इस बार भी लाली अमरूद लेकर आयी । वैसे उससे नजरें मिलाने का साहस मैं जुटा नहीं पा रहा था, किंतु एक नजर उसे देखने के

लिए आँखें भी बेचैन थीं। उसका आना मुझे अच्छा लगा। अमरूद का थैला लेते हुए मैंने मजाक-मजाक में पूछा--"कितने रुपये हुए ?" अपनी आँखों में प्रश्न लिए आश्चर्य से वह मुझे देखने लगी।

"हाँ ! कितने रुपये हुए ? तुमने ही कहा है न कि अब मुफ्त में किसी को अमरूद न खिलाओगी ?"

"हाँ, क्योंकि हर किसी के साथ भावना जुड़ी नहीं रहती न ! और ---जिससे जुड़ी है, उसके लिए तो सर्वस्व त्यज्य है।"

उसकी बातें सुनकर मेरी पत्नी दो पल उसे गौर से देखने के बाद अपनी नजरें मुझ पर टिका दीं। मेरे समझ में कुछ न आया कि मैं क्या बोलूँ। हम दोनों के चेहरे का भाव पढ़ते हुए उसने तुरत कहा---"इन अमरूदों का दाम कैसे लगा सकती हूँ राजा ! याद नहीं ? मैंने अमरूद का पौधा लगाया था और तुम उस पौधे को पानी दिया करते थे ? पूछा करते थे--"यह पेड़ मेरा भी है न ?" फिर--एक व्यथित मुसकान उसके होंठों पर तिर गयी। निरीह आँखों से उसे देखते हुए जवाब स्वरूप मैंने भी मुसकान बिखेर दी।

स्टेशन से गाड़ी चल पड़ी और लाली पीछे छूट गयी। मेरी पत्नी ने मुझसे पूछा---"क्या कह गयी वह ?" एक आह भरते हुए मैंने कहा---"पगली हैं।"

दफ्तर में काम की आधिक्य और जिम्मेवारी के कारण दो वर्षों तक मैं अपने घर न आ पाया। लाली के बारे में जानना भी चाहा मगर पता नहीं क्यों ---माँ से पूछने में संकोच कर जाता। शायद इसलिए कि प्रेम और सहृदयता की देवी 'लाली' को एक चोर की भाँति मैंने अपने हृदय में छिपा रखी थी। और---किसी के समक्ष नाम लेने से भी कतराता था।

पूरे दो वर्षों बाद, आज मैं अपने घर आया हूँ। अचानक मेरी नजर लाली पर पड़ी। कुछ दूर खड़ी वह किसी से बातें कर रही थी। देखा---उसके चेहरे पर

पहले की तरह फिर से चमक आ गयी है और आँखें रसप्लावित हैं। यह चमत्कार शायद उसके माँग में भरे सिंदूर के कारण हुआ। बातों-ही-बातों में माँ ने लाली के बारे में बताया---"उसका भाई बहुत बीमार पड़ा। पेट में जख्म हो गया था। दो-चार हजार की बात होती, तो मैं ही मदद कर देती लेकिन बीस हजार रुपये भला कौन देता ! करज भी कोई देगा, करजदार की कमाई देखकर ही न ! उसके पास क्या था ! दो-तीन घर माय काम करती थी और वह खुद---! दस-बीस रुपयों के लिए दिन भर अमरूद ही बेचती थी न ! उसी समय मुखिया जी का चचेरा भाई भुवन यहाँ आया हुआ था। छोटुआ के इलाज में उसने रुपये देने की बात कही, साथ ही लाली के साथ विवाह करने का प्रस्ताव भी रखा। बस ! यही कहानी है !"

"वही भुवन ! भुवन चौधरी ? जो हीरा चक में रहता है ?"

"हाँ रे, वही ! समझ नहीं आता कि उसे सराहूँ या कलमुँहे को कोसूँ !"

मेरी आत्मा कलप उठी। दुःख और चिंता के साथ मैंने कहा----"वह तो दो बच्चों का बाप है ! वो भी बड़े बच्चों का !"

"हाँ ! यही--दस-बारह के बीच के होंगे दोनों !"

"यह तो बड़ा अनर्थ हुआ माँ !" मेरे मुँह से अनायास निकल पड़ा।

"अब भगवान की इच्छा ! कम-से-कम लाली तो खुश है न ! घर में किसी चीज की कमी न है। और-- छोटू का जीवन भी सँवर गया !" मैं कुछ न बोला। हृदय में एक पीड़ा उठी, जिसमें चिर-परिचित चीत्कार थी---"राजा---! मेरे बाल छोड़ो ! दर्द होता है----मुझे क्यों मारते हो--! चोट लगती है न----!" मेरी आँखें भर आयीं। एक आह भरते हुए आकाश की ओर देखा----सप्तरंगा इंद्रधनुष छाया था ! कितना खूबसूरत ! लेकिन----यह भी सत्य है कि इसमें नीर भरे हैं !

मेरे दिल्ली लौटने के दो दिन पहले लाली मेरे घर आयी। आज ही वह वापस अपने ससुराल जा रही थी, इसलिए माँ से मिलने आयी थी। उसे देखते ही मेरे हृदय में पीड़ा उठी, किंतु बलवत् अपने आप को धैर्य से बाँधते हुए, होंठों पर बनावटी मुसकान बिखेरते हुए पूछा---"तुम जा रही हो ? अमरूद खिलाकर न जाओगी ?"

"पेड़ सूख गया।"---गंभीरता के साथ उसने धीरे-से कहा। और फिर----वह हँस पड़ी I

मैं चौंक उठा---"पेड़ सूख गया ! और यह हँस रही है !" तुरत ही बात मेरे समझ में आ गयी कि बदलते समय के साथ उसने अपने-आप को ढाल लिया है। कहीं ऐसा तो नहीं कि उसकी हँसी एक अभिनय हो ?----मैं बेचैन हो उठा--"नहीं-नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए, वरना मैं अपने आप को धिक्कारता रहूँगा !" उसके आँगन में झाँक कर देखा---सच में, पेड़ सूखा था ! न उस पर कोमल पत्ते थे, न ललचाने वाले फल ! बस-- ठूँठ बना अपने भाग्य पर रोता हुआ। या फिर---मुझे धिक्कारने के लिए अकड़ कर खड़ा था---सब कुछ लुटा कर ! बचपन में कही गयी उसकी बातें मुझे याद आयीं----

"राजा ! जब अमरूद फलेंगे न, तब तुम्हें खिलाऊँगी।"

"लेकिन मैं तो तुम्हें मारता हूँ, चोट पहुँचाता हूँ !"

"इसीलिए तो खिलाऊँगी बुद्धू ताकि कभी भी तुम मुझे चोट न पहुँचाओ !"

"और अगर मैंने तुम्हें चोट पहुँचायी तब ? अमरूद न खिलाओगी ?"

"तब अमरूद फलेंगे ही नहीं।"

"क्यों ?"

"क्योंकि तब पेड़ सूख जाएगा।"

"बुद्धू ! ऐसा कहीं होता है क्या ?"

"हाँ ! होता है न ! माँ कहती है कि पेड़-पौधे बच्चे के समान होते हैं। अब तुम्हीं बताओ, अगर तुम्हारी माँ से या मेरी माँ से कोई झगड़ा करे, तो तुम्हें या मुझे बुरा न लगेगा ?"

"हाँ ! मैं तो उसका सिर तोड़ दूँ !"

"तो फिर ? मुझे कोई चोट पहुँचेगा तो पेड़ को बुरा न लगेगा ? अब बताओ ! तब यह पेड़ कैसे फल देगा ? सूखेगा कि नहीं ?"

"ओ ! यानी तू इसकी माँ है ?"

"हाँ बिलकुल ! माँ कहती है कि पेड़-पौधे के माता-पिता बच्चे भी हो सकते हैं।"

"अच्छा ! तो फिर---मैं इस पेड़ का कौन लगूँगा ?"

"ए राजा ! तू मेरा दिमाग खा गया ! अब तू जा ! तुम्हें पढ़ाने के लिए मास्टर जी आते ही होंगे। और--मुझे भी काम है।" और फिर--- उस दिन के बाद मैंने लाली को कभी नहीं पीटा।

छत पर खड़ा मैं देख रहा हूँ----लाली जा रही है ! हमेशा की लिए ! देखते-देखते वह मेरी आँखों से ओझल हो गयी। और मैं---सूखे पेड़ को देख कर फूट-फूट कर रो पड़ा। हाँ ! मेरे कारण ही यह पेड़ सूख गया ! और फिर----लाली ने सच ही कहा था--"तू मुझे रुलाता है न ? देखना, एक दिन मेरे लिए तू रोएगा !" जिस रास्ते से वह गयी, उस रास्ते को निरीह आँखों से देखते हुए मैं अपने-आप को कहने लगा---"माँ सच ही कहती थी कि मैं बड़ा निर्दयी हूँ। पहले उसके तन पर चोट पहुँचाई, अब मन पर। और-- इसका प्रमाण है---यह सूखा पेड़।